शोधादर्श

३१

तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

मार्च १९९७

शोधादर्श

३१

प्रकाशक :
तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ
मार्च १९९७

संस्थापक एवं आद्य सम्पादक : (स्व.) डा० ज्योति प्रसाद जैन
प्रबन्ध/प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक : श्री अजित प्रसाद जैन
महामन्त्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति, उ० प्र०
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ–२२६ ००४
सम्पादक मंडल : डा० शशि कान्त, श्री रमा कान्त जैन

★ विषय-क्रम ★

१. गुरुगुण-कीर्तन—सोमदेव सूरि —श्री रमा कान्त जैन ५
२. Mahavira in the Early Buddhist Literature —डा० ज्योति प्रसाद जैन ८
३. सम्पादकीय—मन्दिरों से चोरियाँ —श्री अजित प्रसाद जैन ११
४. जैन दर्शन, अध्यात्मवादी काव्य और कबीर —डा० विश्वनाथ मिश्र १६
५. चक्रवर्ती भरत का ऐतिह्य —डा० शशि कान्त २३
६. बारहमासा में बारह भावना —डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया २६
७. पर्यावरण और जीवदया : पशुओं के प्रति क्रूरता निवारण अधिनियम —श्री कैलाश भूषण जिन्दल ३७
८. चिन्तन कण : स्थापना-निक्षेप की अवधारणा —श्री सुखमाल चन्द्र जैन ४०
९. भक्तामर स्तोत्र की एक सचित्र प्रस्तुति —श्री अजित प्रसाद जैन ४३
१०. इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन की जन्म-जयन्ति —श्री रमा कान्त जैन ४६
११. साहित्य सत्कार :
नवनीत; निष्कर्ष; परमात्मा होने का विज्ञान; मन्त्र-शक्ति; सागर में बूंद समाए; जैनागम नवनीत खण्ड ८—परिशिष्ट; अध्यात्म पर्व पत्रिका; नेमिदूतम्; शीलदूतम्; सागर जैन विद्या भारती; तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी परम्परा; हरिभद्र साहित्य में समाज एवं संस्कृति; हे प्रभो ! यह तेरा पंथ !; ग्रन्थराज श्री पंचाध्याय जी
—श्री अजित प्रसाद जैन ४९

तमिलनाडु का जैन इतिहास ;
रत्नकरण्ड–श्रावकाचार का हिन्दी भावार्थ;
परम दिगम्बर गोमटेश्वर; देहरे वाले बाबा;
दूर्वा; तिरुक्कुरल —श्री रमा कान्त जैन ५८
Camdu Kosam; Hinduism;
The Labdhisara; The Tao of Jain Sciences;
जैन धर्म : संक्षेप में; समयसार का दार्शनिक चिन्तन;
धवल-जय धवल सार; जैन तत्व मीमांसा;
कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व और कषाय की भूमिका;
पं० आशाधर व्यक्तित्व और कर्तृत्व; वत्थु विज्जा
—डा० शशि कान्त ६३
१२. समाचार विमर्श : —श्री अजित प्रसाद जैन
आचार्य श्री का निर्वाण महोत्सव ७२
अनशन तप का नया कीर्तिमान ७५
मुस्लिम बालिका द्वारा अठाई तप ७५
गोशाला शिलान्यास ७६
वीर सेना का गठन ७६
१३. अभिनन्दन ७७
१४. समाचार विविधा ७६
१५. शोक संवेदन ८१
१६. आभार ८२
१७. पाठकों की दृष्टि में ८३
१८. इस अंक के लेखक ८८

मूल्य १५ रु०
वार्षिक शुल्क ४० रु० (मनीआर्डर द्वारा प्रेष्य)

आवश्यक

कृपया वर्ष १९९७ का वार्षिक शुल्क ४० रु० (चालीस रुपये) मनीआर्डर द्वारा 'महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति उ. प्र., ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' को यथाशीघ्र भेजने का अनुग्रह करें।

—प्रबन्ध सम्पादक

आवश्यक सूचना

शोधादर्श चातुर्मासिक पत्रिका है और सामान्यतया इसके अंक मार्च, जुलाई व नवम्बर में प्रकाशित होते हैं।

शोधादर्श में प्रकाशनार्थ शोधपरक एवं अप्रकाशित लेख आमन्त्रित हैं। लेख कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखित अथवा टंकित होना चाहिए और उसमें यथावश्यक सन्दर्भ/स्रोत सूचित किये जाने चाहिएं। यथासम्भव लेख ३-४ टंकित पृष्ठ से अधिक न हो। **लेख की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें।**

शोधादर्श में **समीक्षार्थ** पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की **दो प्रतियां** भेजी जायें।

शोधादर्श में प्रकाशित लेखों को उद्धरित किये जाने में आपत्ति नहीं है, परन्तु **शोधादर्श** का श्रेय स्वीकार किया जाना और पूर्ण सन्दर्भ दिया जाना अपेक्षित है।

प्रकाशनार्थ लेख और समीक्षार्थ पुस्तक / पत्रिका सम्पादक को 'ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४' के पते पर भेजे जायें।

लेखक के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

सभी विवाद लखनऊ में स्थित सक्षम न्यायालयों/न्यायाधिकरणों के क्षेत्राधिकार के अधीन होंगे।

—प्रबन्ध सम्पादक

निवेदन

सुधि पाठक कृपया अपनी सम्मति और सुझावों से अवगत करावें ताकि पत्रिका के स्तर को बनाये रखने और उन्नत करने में हमें प्रोत्साहन तथा उद्बोधन प्राप्त होता रहे। कृपया पत्रिका पहुंचने की सूचना भी देवें।

— सम्पादक मण्डल

मुद्रक : रत्न-ज्योति प्रेस, चारबाग, लखनऊ-४ (उ० प्र०)

णाणं णरस्स सारं - सच्चं लोयम्मि सारभूयं

शोधादर्श-३१

वीर निर्वाण संवत् २५२३ मार्च १९९७ ई०

गुरुगुण-कीर्तन

सोमदेव सूरि

श्रीसोमदेवपूर्व्वा अकुर्वताऽपूर्वशब्दसर्वस्वाः ।
निरवद्यगद्यपद्यश्चम्पूः कृतबुधशिरः कम्पाः ।।

—पं० गोविन्द (लगभग १५०० ई०) कृत
पुरुषार्थानुशासन-प्रशस्ति, श्लोक सं० २१

भावार्थ—श्री सोमदेव ने पहले के शब्द भण्डार को अपूर्व (अनूठा) कर दिया और दोष रहित गद्य, पद्य और चम्पू की रचना कर बुधजनों (विद्वानों) के मस्तिष्क को कम्पित कर दिया, अर्थात्, अपनी रचनाओं से विद्वानों को विस्मित कर दिया ।

उपर्युक्त श्लोक में शब्द भण्डार अनूठा करने वाले और दोष रहित गद्य, पद्य और चम्पू काव्य की रचना करने वाले जिन श्री सोमदेव का सादर स्मरण किया गया है वह **यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य** अपरनाम **यशोधर महाकाव्य** के प्रणेता श्रीमत्सोमदेव सूरि हैं जिन्होंने अपनी उक्त कृति में अनेक प्राचीन किन्तु अप्रचलित शब्दों का कुशलता पूर्वक प्रयोग कर उनका उद्धार किया और साथ ही कई नये शब्दों का प्रयोग कर शब्द-कोश को समृद्ध किया । संस्कृत में अष्टसहस्री प्रमाण (आठ हजार श्लोक परिमाण) गद्य-पद्य पद्धति से आठ आश्वासों (सर्गों) में निबद्ध इस चम्पू महाकाव्य ने, कहा जाता है, 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' (अर्थात्, नौ सर्ग

पर्यन्त माघ का काव्य पढ़ लेने पर संस्कृत का कोई नया शब्द शेष नहीं रहता) की उक्ति के स्थान पर 'गते शब्दनिधावस्मिन्नवशब्दो न विद्यते' (अर्थात्, शब्दों के भण्डार स्वरूप इस यशस्तिलक चम्पू महाकाव्य को पढ़ लेने पर संस्कृत का कोई नया शब्द शेष नहीं रहता) की उक्ति प्रतिस्थापित कर दी। विविध ज्ञान के भण्डार इस चम्पू महाकाव्य में प्रयुक्त अप्रचलित शब्दों और छन्दों आदि के सम्बन्ध में कालान्तर में पं० श्रीदेव ने १३०० श्लोक प्रमाण **यशस्तिलक-पञ्जिका** अपरनाम **यशोधर महाकाव्य-पञ्जिका** की रचना की। जीवहिंसा हो नहीं अपितु भावहिंसा का कुपरिणाम भी मनुष्य को कई जन्म तक भुगतना पड़ जाता है, उसके दृष्टान्त स्वरूप राजा यशोधर की अहिंसा प्रेमी जैन जगत् में लोकप्रिय रही कथा इस महाकाव्य के प्रथम पांच आश्वासों की विषय वस्तु हैं और अन्तिम तीन आश्वासों में गृहस्थोपयोगी धर्म का उपदेश होने से उन्हें **उपासकाध्ययन** नाम से भी अभिहित किया जाता है। गद्य संरचना में वाणभट्ट की **कादम्बरी** और धनपाल की **तिलकमञ्जरी** के समकक्ष उक्त चम्पू महाकाव्य की रचना सोमदेवसूरि ने शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) में चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को गंगाधारा में पूर्ण की थी, जो पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर के महीपति राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज (तृतीय) के चरणोपजीवि सामन्तचूडामणि चालुक्यवंशी अरिकेसरि के ज्येष्ठ पुत्र वागराज (बड्डिग) की राजधानी थी।

सोमदेव सूरि की कृतियों से विदित होता है कि इनके प्रगुरू देवसंघ के आचार्य यशोदेव थे और उनके शिष्य महावादी नेमिदेव इनके गुरू थे। इन्होंने अपने अग्रज महेन्द्रदेव भट्टारक का भी 'वादीन्द्रकालानल' विरुद के साथ उल्लेख किया है।

नीतिवाक्यामृत इनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है जिसमें सूत्रों के रूप में राजनीति के सिद्धान्तों का सुन्दर निरुपण किया गया है। मनु, वशिष्ठ, भागुरी, भीष्म, भारद्वाज, विशालाक्ष और **अर्थशास्त्र** प्रणेता कौटिल्य प्रभृति अपने से पूर्ववर्ती राजनीति विशारदों के

विचारों से भलीभांति परिचित रहे सोमदेव सूरि ने अपनी मौलिक अवधारणाओं के साथ अमृत-स्वरूप जिन नीति वाक्यों को इस राजनीति शास्त्र में संजोया है वे आज के युग के लिये भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने वे अब से लगभग १००० वर्ष पूर्व हुए ग्रन्थकर्ता के समय में थे। आज जिस धर्म-निरपेक्ष राज्य का नारा लगाया जाता है उसकी अवधारणा सोमदेव पहले ही कर चुके थे। उनकी अवधारणा थी कि व्यक्ति की धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि का उपाय राज्य है। अतः ग्रन्थारम्भ में अपने इष्टदेव या गुरू को नमन न करके उन्होने 'अथधर्मार्थकामफलाय राज्यायनमः' कह कर नागरिक के धर्म, अर्थ और काम नामक तीन पुरुषार्थो को फलीभूत करने वाले राज्य को नमन किया है। सोमदेव का युग राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का था, आजकल की भांति लोकतन्त्र का नहीं। तदपि राजा से अपेक्षा के सम्बन्ध में उनके जो विचार रहे हैं वे जो भी शासन व्यवस्था रहे उस पर भी समान रूप से लागू होते हैं।

नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति से विदित होता है कि उसकी रचना करने से पूर्व वह उपर्युक्त **यशोधर महाराज चरित (यशस्तिलकचम्पू)** के अतिरिक्त **षण्णवति प्रकरण** (९६ अध्याय वाला शास्त्र), **युक्तिचिन्तामणि सूत्र** (दार्शनिक ग्रन्थ) और **महेन्द्र मातलि संजल्प** (महेन्द्र और उनके सारथी मातलि के मध्य संवाद रूप में धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थत्रय का निरुपण करने वाला ग्रन्थ) की रचना कर चुके थे। इनके अतिरिक्त, कदाचित् **नीतिवाक्यामृत** की रचना के उपरान्त, उन्होंने अध्यात्म विषय पर **अध्यात्मतरङ्गिणी** नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिस पर संवत् ११८९ में जयसिंह देव के राज्य में गणधरकीर्ति ने **सिद्धिप्रदा टीका** की रचना की।

स्याद्वादाचलसिंह, तार्किक चक्रवर्ति, वादीभ पंचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि, कविकुलराज प्रभृति प्रशस्तियों के प्रशस्त अलंकारों से मण्डित सोमदेव सूरि की कृतियों से स्पष्ट है कि वह बहुविध ज्ञान के भण्डार प्रकाण्ड विद्वान, प्रतिभावान, कुशल शब्द शिल्पी गद्यकार और महाकवि थे। (शेष पृष्ठ १० पर)

Mahavira in the Early Buddhist Literature

—Dr. Jyoti Prasad Jain

At one time the European Orientalists, carried away by a superficial resemblance in certain features between Jainism and Buddhism, had, rather dogmatically, surmised that the former was a later derivation of the latter. It took serious efforts and time to expose the unsoundness of this theory. Consequently the world of scholars has now given it up and has accepted without cavil the fact that Jainism is much older than Buddhism. There are a number of interesting references in the early Buddhist literature to Mahavira, his doctrines and his followers. They often refer to the Jains by the designation 'Nigantha' or 'Nirgantha', as constituting a rival sect, but nowhere even hint that this sect was a newly founded one. On the contrary, from the way in which they speak of it, it would seem that this religion was in the time of the Buddha already one of long standing. Unlike the Buddha, Mahavira made no attempt to discover or preach a new religion but only propagated the faith which had been preached again and again by the preceding twenty-three Tirthankaras. On the other hand, the Buddha made several experiments in his quest of knowledge and is even said to have entered the order of Jain ascetics with the same object.

In the Pali texts of the Buddhists there are a number of allusions to Nigantha Nataputta, as Mahavira was called by them, and to his greatness. It was said that he 'Knew and saw all things, claimed perfect knowledge and faith and taught the annihilation by austerities of the old Karma and prevention by inactivity of new Karma and that when Karma ceases, misery ceases. (SBE, Vol. XXII, p. xv). According to the *Majjhima Nikaya* (PTS, II, p. 214) the Nirgrantha ascetics once told the Buddha that their master, Nataputta, was an omniscient and that by his infinite knowledge he had told them what sins they had committed in their previous births. The *Samyutta Nikaya* (PTS, IV, p. 398) speaks of the popular belief that the famous Nataputta (Mahavira) could tell where a person would be born after his death and, on being enquired, could also tell where a

particular person was thus reborn. The *Anguttara Nikaya* also refers to the fact that it was generally believed at that time that 'Nigantha Nataputta could know all and could perceive all, that his knowledge was unlimited and that he was omniscient during all the time other people were awake or asleep or busy in their mundane pursuits.' Rockhill, in his *Life of Buddha* (page 259), says that King Ajatashatru (Kunika) of Magadha was also once made acquainted with these facts by Mahavira himself.

The *Mahavagga* gives the story of the conversion to Buddhism of the Lichchhavi general Simha of Vaishali who had gone to see the Buddha despite Mahavira's having forbidden him to do so ; and the *Majjhima Nikaya* speaks of the conversion of Upali, a lay follower of Mahavira, after he had a disputation with the Buddha as regards the comparative iniquitousness of the sins of the body and those of the mind. Mrs. Rhys Davids, in the *Psalms of the Early Buddhists*, gives several instances of conversion from Buddhism to Jainism, and *vice versa* ; Ajjuna, Buddhist, is said to have contacted the Jains and entered their order, and prince Abhaya to have been taught a dilemma by Nataputta, and so on. Dr. B. C. Law, in his *Htstorical Gleanings*, also refers to the relations of the Buddha with the Niganthas and to their mutual conversions, giving examples of Simha, Sachchaka, Srigupta, Gribadinna, Digha Tapassi, Upali, Abhaya Rajakumara, Visakha, etc.

A number of specifically Jain metaphysical and ethical doctrines, theories and terms also find mention in several texts of the Pali canon.

These texts speak of the Niganthas (the Jains) as the opponents and converts of the Buddha, but never imply, much less assert, that theirs was a newly founded sect. Moreover, they mention the older Nigantha Chaityas (chapels), particularly of the Lichchhavis of Vaishali, the Chaturyama Dharma of Parshvanatha, the Buddha's disputation with Sachchaka who himself was a non-Jain but whose father had been a Jain, and the schism that appeared among the Jains after Mahavira's

nirvana at Pava. The last mentioned incident was, according to the *Samagama Sutta*, related to the Buddha himself who evidently survived Mahavira and was thus a junior contemporary of the last Tirthankara. As Prof. Buhler observed, "From the Buddhist accounts in their canonical works as well as in other books, it may be seen that this rival (Mahavira) was a dangerous and influential one, and that even in the Buddha's time his teaching had spread considerably." (vide, *The Jains*). "Mahavira must have been a great man in his way and an eminent leader among his contemporaries," says Dr. Herman Jacobi, and "Like his great rival Buddha he must have been an eminently impressive personality", is the surmise of Dr. Hoernle. According to the Buddhist tradition, Nigantha Nataputta was one of the more important of the six Tirthakas of Buddha's time, who together with the Buddha himself were the famous religious teachers, outside the pale of Brahmanism, of those times. And Mahavira's followers, the Niganthas (or the Jain ascetics), have been described in an old Buddhist text, the *Mahaparinibbana Sutta* (SBE, XI, p. 106), as "Heads of companies of disciples and students, teachers of students, well known and renowned founders of schools of doctrine, esteemed as good men by the multitude."

(Author's *Jainism, The Oldest Living Religion* may be referred for detailed discussion. —Ed.)

(पृष्ठ ७ का शेष)

वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित **जैनग्रन्थप्रशस्ति संग्रह** प्रथम भाग से उपर्युक्त सोमदेव सूरि के अतिरिक्त एक अन्य सोमदेव सूरि की भी जानकारी मिलती है जिन्होंने नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती के ग्रन्थ **त्रिभंगीसार** पर लाटीय भाषा में **सुबोधा** नाम की टीका रची है। ये सोमदेव सूरि, उक्त टीका प्रशस्ति के अनुसार, व्याघेरवाल वंश के थे और इनके पिता का नाम अभदेव तथा माता का वैजेणि था। उक्त टीका के आदि और अन्त भाग में क्रमश: उन्होंने जिस प्रकार आचार्य गुणभद्रसूरि को नमन किया है और मूलसंघ के श्री पूज्यपाद को स्मरण किया है, उससे प्रतीत होता है कि गुणभद्रसूरि उनके गुरू रहे होंगे और उनका सम्बन्ध मूलसंघ के मुनियों से रहा होगा। पं० परमानन्द जैन का अनुमान है कि इनका समय विक्रम की १७वीं शती का उत्तरार्द्ध था।

—रमा कान्त जैन

सम्पादकीय

मन्दिरों से चोरियां

आए दिन समाचार पत्रों में जैन मन्दिरों से तीर्थंकर प्रतिमाओं तथा सोने चांदी के छत्र, चमर, सिंहासन व गुप्त दान पेटी आदि के चोरी जाने के पीड़ादायक समाचार पढ़ने में आते रहते हैं। कभी-कभी पुलिस की सक्रियता से चोरी गई मूर्तियां आदि बरामद भी कर ली जाती हैं, पर अधिकांश मामलों में तलाश निष्फल ही सिद्ध होती रही है। जैनेतर धर्मायतनों (हिन्दू-बौद्ध मन्दिरों, गिरजाघरों, मसजिदों आदि) से चोरी की घटनाएं अपेक्षाकृत बहुत कम सुनने में आती हैं। इसका एक स्पष्ट कारण तो यही है कि जैन समाज अपने धन वैभव के लिए तथा अपने धार्मिक आयोजनों में उसके प्रदर्शन के लिए सुप्रसिद्ध है। इसकी भी प्रसिद्धि है कि जैन मन्दिरों में सोने चांदी के छत्र, चमर, सिंहासन, मूर्तियाँ ही नहीं, रत्नों से निर्मित मूर्तियाँ तक तथा पुरातत्त्व की दृष्टि से बहुमूल्य अति प्राचीन मूर्तियां भी अक्सर रहती हैं और दान पेटी तो प्रायः नोटों सिक्कों से भरी ही रहती है, तथा मन्दिरों में इतना वैभव रहते हुए भी सुरक्षा की कोई विशेष व्यवस्था सामान्यतया नहीं रहती। अतः जैन मन्दिरों तथा कला केन्द्रों का चोरों व मूर्ति-तस्करों के विशेष आकर्षण के केन्द्र होना स्वाभाविक ही है। जैन मूर्ति कला के अनुपम केन्द्र देवगढ़ क्षेत्र से तो कुछ वर्ष पूर्व तक, समुचित सुरक्षा व्यवस्था के न होने के कारण, मूर्तियों तथा पुरावशेषों की बड़े पैमाने पर तस्करी होती रही है। मूर्ति तस्करों का तो कहना ही क्या, झांसी–ललितपुर में तैनात रहे अनेक उच्चाधिकारी भी वहां की कलाकृतियों से अपने ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ाने से नहीं चूके। सुनने में तो यह भी आया था कि पुरातत्त्व में रुचि रखने वाले कुछ जैन बन्धुओं ने भी बहती गंगा में हाथ धोने से परहेज नहीं किया।

हाल ही में जैन मन्दिरों से मूर्तियों आदि की चोरी की निम्नलिखित घटनाएं विशेष रूप से प्रकाश में आई हैं–

(१) **खतौली** (जिला मुजफ्फरनगर) के जमुना बिहार स्थित जैन मन्दिर से अज्ञात बदमाशों ने **लाखों रुपए मूल्य** की भगवान ऋषभदेव की अष्ट धातु की मूर्ति, दान पात्र तथा चांदी का छत्र चुरा लिया। उत्तेजित नागरिकों ने कई घण्टों तक राज मार्ग पर यातायात रोक कर अपना रोष प्रकट किया। पुलिस की तलाश जारी है। (**तीर्थ वन्दना**, जनवरी १९९७)

(२) **भसलाना ग्राम** (जिला जयपुर) के जैन मन्दिर से चोर मन्दिर की खिड़की तोड़ कर भगवान आदिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभु की **बहुमूल्य प्राचीन प्रतिमाएं** चुरा ले गये। पुलिस की तलाश जारी है। (भाषा–४ जनवरी, १९९७)

(३) **मन्दसौर–ग्राम फतेहगढ़** स्थित प्राचीन भ० चन्द्रप्रभु मन्दिर से चोर अष्ट धातु की प्रतिमा तथा दान पेटी चुरा ले गए। बाद में दान पेटी ग्राम के बाहर रेल की पुलिया के निकट खाली पड़ी मिली।

(४) **ब्याह माडवा ग्राम** (जिला औरंगाबाद, महा०) में जैन मन्दिर से चोर दि० १३ जनवरी की रात्रि में ताले तोड़ कर ११ पीतल की प्रतिमाएं, सिंहासन, व यंत्र **सोने के समझकर** चुरा ले गए। पुलिस अभी तक चोरी का कोई सुराग नहीं लगा पाई है।

(५) **श्री अतिशय क्षेत्र पिडरुआ** (जिला सागर, म०प्र०) के दि० जैन पार्श्वनाथ मन्दिर से १६ दिसम्बर ९६ को चोर रात्रि में मन्दिर के पीछे की दीवाल पर चढ़ कर चौक की जाली काट कर, नीचे के दरवाजे का ताला तोड़ कर, तीन वेदियों के शटर के तालों को तोड़ कर **४ पीतल की मूर्तियां, सोने की समझकर,** २० चांदी के छत्र-चमर आदि **कीमती सामान** चुरा ले गए। चोर सामान के साथ २ फर्लांग भी न जा पाए थे कि उन्हें बहुत जोरों से नींद आने लगी और वे गांव के पास एक खेत में सो गये तथा वहाँ वे दिन के चार बजे तक सोते रहे। चार बजे गांव वालों व पुलिस ने

आ कर उन्हें मय चोरी के सामान व देशी रिवाल्वर तथा कारतूस सहित पकड़ लिया। इसी तरह जनवरी १९९३ में चोर मन्दिर में घुस कर तिजोरी तोड़ कर नकदी नोट चुरा ले गये थे पर ८ दिन के भीतर ही चोरी के सामान सहित पकड़ लिए गये थे।

(६) **मैनपुरी** नगर के लोहाई मुहल्ले में स्थित श्री पार्श्व नाथ दि० जैन मन्दिर से चोरों ने १२ दिसम्बर की रात्रि में कई ताले तोड़ कर **३१ बहुमूल्य मूर्तियां** जो स्फटिक मणि, पन्ना, मूंगा तथा अष्ट धातु से निर्मित थीं, चुरा ली। **बाजार में इनकी कीमत करोड़ों में आंकी जा रही है।** घटना के विरोध में जैन समाज सहित अन्य लोगों ने भी अपने सभी प्रतिष्ठान बन्द कर दिये तथा जलूस निकाल कर धरना, अनशन व प्रदर्शन किया। (**करुणा दीप,** १५-१-९७)।

अन्य दो स्थानों के मन्दिरों से भी सोने चांदी के बहुमूल्य उपकरणों के चोरी चले जाने के समाचार प्रकाश में आये हैं।

उपरोक्त समाचारों के विश्लेषण से विदित होगा कि गांवों के मन्दिरों से चोरियां अधिक हो रही हैं। गांवों में जैन धर्मावलम्बियों की संख्या, नगरों व कस्बों में पलायन के कारण दिन-प्रतिदिन घटती जा रही हैं तथा मन्दिरों में सुरक्षा की कोई विशेष व्यवस्था भी नहीं होती। पर मैनपुरी नगर के मन्दिर से हुई चोरी सर्वाधिक चौकाने वाली है क्योंकि यह चोरी सुरक्षा की कड़ी व्यवस्था को धता बता कर हुई। **करुणा दीप** में प्रकाशित विवरण के अनुसार चोरी गई मूर्तियां वेदी पर रखी गोडरेज की एक तिजोरी में रखी थीं। विशेष सुरक्षा की दृष्टि से तिजोरी के एक तरफ सुदृढ़ जाली फिट की हुई थी तथा तिजोरी के ऊपर मोटे शीशे का एक कवच बनाया गया था, और उसके चारो ओर लोहे के सरिये का मजबूत फाटक लगा था जिसमें हमेशा ताला पड़ा रहता था। फाटक के बाहर लकड़ी का मजबूत दरवाजा लगा है जिस पर भी ताला

लगा रहता है। मन्दिर के अन्दर से बाहर जाने के लिए तीन मजबूत दरवाजे हैं जिनमें भी ताले पड़े रहते हैं। मन्दिर नित्य प्रातः काल दर्शनार्थ खोला जाता है।

उस रात्रि में अज्ञात चोरों ने बगल के एक मकान से होकर मन्दिर में प्रवेश किया था। रक्षा मन्त्री माननीय श्री मुलायम सिंह यादव के इस चोरी के मामले में रुचि लेने से पुलिस की सक्रियता विशेष रूप से बढ़ी तथा पुलिस ने इसे चुनौती मान कर सरगर्मी से तलाश की। दि० २४ दिसम्बर को प्रकाशित एक सूचना के अनुसार मैनपुरी कोतवाली के भावत चौराहा क्षेत्र में रात्रि में छापा मार कर ३१ में से २५ मूर्तियां (३ स्फटिक मणि की, २ पन्ना की, २ मूंगा की व १८ अष्ट धातु की) बरामद कर ली गई। इनमें से ३ रत्न-मूर्तियाँ खण्डित मिली हैं। गिरफ्तार किये गये ५ अभियुक्तों का प्रमुख एक जैनी ही निकला। बताया जाता है कि वह नित्य प्रति मन्दिर में दर्शन पूजन भी किया करता था। मन्दिरों से हुई चोरियों में मन्दिर के माली/चौकीदार का हाथ तो अक्सर पाया गया है पर कोई श्रावक भी इतना गिर सकता है, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। **धर्म बुद्धि पर धन बुद्धि किस कदर** हावी हो सकती है, यह उसका एक शर्मनाक उदाहरण है। वह यह भी दर्शाता है कि यदि हमारे भगवान (तीर्थंकर प्रतिमा) का बाजार मूल्य ऊंचा है तो कड़ी सुरक्षा व्यवस्था को भी धता बता कर कोई भक्त भी उन्हें बाजार में बेच आ सकता है।

यह कैसी विडम्बना है कि जिन जिनेन्द्र भगवान ने सब को निर्भय किया, जिनकी परम वीतरागी शान्त मुद्रा के भाव सहित दर्शन करने से भक्त हृदय सब प्रकार के भयों पर विजय प्राप्त कर लेता है, उनकी ही प्रतिमा की, जिसे हम मन्त्रों आदि से संस्कारित कर स्थापना निक्षेप से साक्षात भगवान मान कर पूजा अर्चना करते हैं, सुरक्षा के लिए आशंकित हो कर तिजोरी में सात तालों में बन्द करके रखना पड़ता है जैसे वह भगवान न होकर कोई बहुमूल्य

आभूषण हों। और फिर भी दुस्साहसी चोर अपना काम कर ही जाते हैं।

दिगम्बर जैन आम्नाय के अनुसार हम श्री मन्दिर जी की वेदी में प्रतिष्ठित प्रतिमा में समवशरण में विराजित साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की अवधारणा करके दर्शन-पूजा-अर्चना करते हैं, उनके ही समान बन जाने की कामना से उनके गुणों का चिन्तवन करते हुए आत्मिक शान्ति प्राप्त करते हैं। रत्न-स्वर्ण-निर्मित अति लघुकाय जिनेन्द्र प्रतिमाओं के दर्शन से हमारे हृदय में उपर्युल्लिखित उदात्त भावनाओं के जाग्रत होने की अपेक्षा उन बहुमूल्य प्रतिमाओं के प्रतिष्ठापक हमारे पूर्वजों का धन-वैभव हमें चमत्कृत ही अधिक करता है। ये बहुमूल्य प्रतिमाएं उस भट्टारकीय युग की देन हैं जब धार्मिक कृत्यों का मूल्य भी धन की तराजू से आंके जाने की पृथा का प्रारम्भ हुआ था। इस पृथा ने अब तो और भी जोर पकड़ लिया है जिसका दर्शन हमें धार्मिक आयोजनों में बोलियों की भरमार में होता है, यद्यपि इस दिनों-दिन बढ़ती महंगाई के युग में बड़े से बड़ा धनपति भी रत्न-प्रतिमाएं निर्माण कराने की कल्पना भी नहीं करता।

रत्नों-मणियों एवं स्वर्ण से निर्मित प्रतिमाएं दुर्लभ हैं, ये हमारी जैन संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं, हमारे गौरव पूर्ण वैभव शाली अतीत के प्रमाण चिन्ह हैं, — इनकी सुरक्षा करना समाज का विशेष उत्तरदायित्व है। यदि कोई राष्ट्रीय जैन संग्रहालय स्थापित कर देश के सभी मन्दिरों से ऐसी बहुमूल्य एवं दुर्लभ प्रतिमाओं तथा अन्य कला कृतियों व ऐतिहासिक महत्व की पाण्डुलिपियों को उसमें हस्तान्तरित कर दिया जाय तो उनकी सुरक्षा की विशेष व्यवस्था करना निश्चय ही उतनी कठिन समस्या नहीं होगी जितनी का सामना वर्तमान में देश भर में दूर-दूर स्थित उन सभी मन्दिरों के व्यवस्थापकों को करना पड़ता है जहाँ-जहाँ यह अमूल्य सम्पदा न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान है।

—अजित प्रसाद जैन

जैन दर्शन, अध्यात्मवादी काव्य और कबीर*

—डा० विश्वनाथ मिश्र

सन १९६० के दिसम्बर महीने में विश्वविद्यालय स्तर के हिन्दी अध्यापकों की संस्था, भारतीय हिन्दी परिषद, का वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था। उसके समापन के अनन्तर मैं उस महानगर के दर्शनीय-स्थलों को देखने के लिए ठहर गया था। अपने छोटे भाई चि० महेश तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० कल्याणमल लोढ़ा, जो एम० ए० में मेरे सहपाठी रहे थे, के कहने से मैं विभिन्न दर्शनीय-स्थलों के साथ जैन मन्दिर को भी देखने गया था। उस मन्दिर की दीवालों पर लिखित छन्दों को पढ़कर मुझे लगा था कि यह तो बिल्कुल कबीर, दादू, रैदास, नानक आदि की बानियों जैसे ही हैं। तभी मेरे मन में सवाल उठा था कि आखिर किसने किससे ग्रहण किया?

अपने मन में उठे इसी सवाल का जबाब खोजने के लिये मैंने मुजफ्फरनगर लौटने पर जैन ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। इस अध्ययन से मुझे ज्ञात हुआ कि भारतीय इतिहास के उस आदिम युग में जब वेदों की रचना के माध्यम से लोक-सापेक्ष चिन्तन, मनन, याज्ञिक-अनुष्ठान, धार्मिक कर्मकाण्ड आदि की साधना चल रही थी, तभी निवृत्ति मार्गी जैन तीर्थंकरों ने भी अपनी श्रमण-संस्कृति का प्रचार-प्रसार आरम्भ कर दिया था। **ऋग्वेद** की रचना से आरम्भ हुई ऋषियों की परम्परा के साथ उसी काल में ऋषभदेव के साथ जैन तीर्थंकरों का अनुक्रम चला था जो २४वें तीर्थंकर महावीर स्वामी तक आया। ऋषभदेव की चर्चा तो वैष्णव धर्म के सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ **श्रीमद्भागवत्** में भी है।

जैन धर्म के तीर्थंकरों के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी के अनन्तर मैंने उनके जीवन-दर्शन का अध्ययन आरम्भ किया।

---

*१६-१०-१९९६ को बहलना (जि० मुजफ्फरनगर) में डा० (श्रीमती) सूरजमुखी जैन के ग्रन्थ **अपभ्रंश का जैन रहस्यवादी काव्य और कबीर** के लोकार्पण के अवसर पर दिये गये भाषण के सारभूत अंश।

जैनाचार्यों ने इस जगत् के जीवन-प्रवाह के सम्यक् दर्शन के लिये अनेक दृष्टियों को अपनाने का आग्रह किया है। इस जीवन-दृष्टि को 'अनेकान्तवाद' अथवा 'सप्तभंगीनय' की संज्ञा दी गयी। आधुनिक काल में अल्बर्ट आइंस्टीन ने जिस 'सापेक्षवाद' की प्रतिष्ठा की है, जैनाचार्यो ने वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तो नहीं, लेकिन इस जगत् के क्रिया-कलापों को भली प्रकार समझने के लिए उसकी स्थापना उस आदिम-युग में कर दी थी। जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक विचार के पहले, उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के लिए, 'स्यात्' विशेषण जोड़ना आवश्यक है। यह 'स्यात्' शब्द 'अस्' धातु से बने 'अस्ति' के साथ जुड़कर सात रूप ग्रहण करता है, यथा 'स्यात् अस्ति' = शायद है; 'स्यान्नास्ति' = शायद नहीं है; 'स्यादस्ति च नास्ति च' = शायद है एवं शायद नहीं है; 'स्यात् अव्यक्तव्यम्' = शायद वर्णनातीत है; 'स्यादस्ति च अव्यक्तव्यम् च' = शायद है तथा वर्णनातीत है; 'स्यान्नस्ति च अव्यक्तव्यम् च' = शायद नहीं है तथा वर्णनातीत है, तथा 'स्यादस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यम् च', अर्थात्, शायद है, नहीं है और अवर्णनीय है। इसी चिन्तन परम्परा को सप्तभंगीनय भी कहा गया है। किसी भी वस्तु के विषय में ये सातों भंगिमाएं यथार्थ हैं; तथा प्रत्येक पदार्थ को इसी अनेकान्तिक दृष्टि से ही समझा जा सकता है।

जैनाचार्यों ने इस संसार की विभिन्न वस्तुओं को अनेकान्तवादी दृष्टि से देखने के साथ-साथ अनन्त धर्मा भी कहा है। इस विचारधारा को लेकर उनका कहना है कि किसी व्यक्ति को भली प्रकार जानने के लिए, उसके देश, काल, जाति, धर्म, वर्ण, समाज आदि का ज्ञान होने के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि वह क्या नहीं है। इसी प्रकार जैन दर्शन में प्रत्येक पदार्थ के दो रूप शाश्वत तथा अशाश्वत माने गये हैं। उसके शाश्वत रूप को उन्होंने 'नित्य' और अशाश्वत को 'अनित्य' कहा है। पदार्थ की शाश्वत विशेषताओं को उन्होंने 'गुण' तथा देश व काल से आबद्ध

रूप को 'पर्याय' कहा है। इस 'गुण' और 'पर्याय' से सम्पन्न विशिष्ट पदार्थ को उन्होंने 'द्रव्य' की संज्ञा दी है। यह द्रव्य, 'गुण' से सम्पन्न होने पर 'नित्य' और पर्याय-दृष्टि से 'अनित्य' होता है। द्रव्य के उन्होंने दो विभेद किये हैं, यथा एक-देशव्यापी और बहु-देशव्यापी। काल को उन्होंने एक-देशव्यापी कहा है तथा शेष जगत् के समस्त द्रव्यों को सविस्तार माना है। सविस्तार द्रव्यों को उन्होंने 'अस्तिकाय' नाम दिया है, अर्थात्, वह काय या शरीर जो सदा सत्तावान रहता है। अस्तिकायों की संख्या उन्होंने पांच मानी है, यथा-जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म एवं अधर्म।

'अस्तिकाय' के इन सभी रूपों पर विशेष विचार की अपेक्षा है। जीव को सदा चैतन्य कहा गया है। प्रत्येक जीव को उन्होंने अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना है। लेकिन कर्मों के आवरण के कारण इन स्वाभाविक गुणों का जीव में उदय नहीं होता। चैतन्य की उपलब्धि होने पर ही वह नित्य-स्वरूप ग्रहण करता है। चेतना की उपलब्धि साधना के फल-स्वरूप ही होती है। जीव इस प्रकार कर्त्ता, भोक्ता, स्वप्रकाश्य तथा प्रकाशक होता है। आत्म-साधना से ही उसे अपने अनन्त स्वरूप का आभास होता है। 'पुद्गल' उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचय रूप से शरीर का निष्पादन करते हैं; और प्रचय का नाश होने पर अपने आप छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। 'पुद्गल' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ किया गया है, 'पूरयन्ति गलन्ति च', अर्थात्, जो किसी को पूर्ण कर देता है और फिर स्वयं गल जाता है। जैन दार्शनिकों ने पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु को अलग नहीं वरन् एक ही द्रव्य माना है; और रूप, रस, गंध, को ग्रहण करने वाले चेतनाहीन पदार्थ को 'पुद्गल' कहा है।

वैदिक दर्शन से चले आ रहे पंचभूतों में आकाश की परि-कल्पना जैनाचार्यों ने अलग से की है। लेकिन उन्होंने उसे मात्र आनुमानिक सत्ता कहा है। जीव, पुद्गल आदि के विस्तार की सिद्धि के लिये उन्होंने 'आकाश' की स्थिति मानी है। आकाश के

उन्होंने दो भेद किये हैं, एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। अलोकाकाश को उन्होंने लोक से उपरितल, अर्थात्, लोक से ऊपर का, प्रदेश कहा है। अस्तिकाय के चौथे रूप 'धर्म' को उन्होंने 'जीव' तथा 'पुद्गल' की गति में सहायता देने वाला द्रव्य बताया है। 'धर्म' जीव को गति प्रदान करने में स्वयं तो असमर्थ रहता है, लेकिन इस दिशा में उसकी सहायता करता है। धर्म के इस व्यवहार को समझाने के लिये कहा गया है कि जल जिस प्रकार मछली को गति की प्रेरणा न देकर केवल सहायता देता है, उसी प्रकार 'धर्म' जीव तथा पुद्गल को गतिशील बनाने में सहायक होता है। जीव की अगतिमय स्थिति को 'अधर्म' कहा गया है। वृक्ष की छाया जिस प्रकार श्रान्त पथिक की सहायता करती है, उसे विश्राम देती है, उसी प्रकार 'अधर्म' जीव की स्थिति में सहायक होता है।

जैनाचार्यों ने अपने इस अध्यात्म-चिन्तन के अतिरिक्त अपने साधना-मार्ग का भी निरूपण किया है। उन्होंने सर्वाधिक महत्व अपने तीर्थंकरों की पूजा-आराधना को दिया है। 'तीर्थंकर' का एक पर्याय 'अर्हत्' है। इस 'अर्हत' शब्द का मूल अर्थ तो पूजनीय है; लेकिन जब तीर्थंकर के पर्यायवाची के रूप में इसका प्रयोग होता है तो डॉ० वामन शिवराम आप्टे के अनुसार उसका अर्थ हो जाता है, 'सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः।' उसे फिर 'अर्हन्त' और 'अरिहन्त' भी कहा जाने लगता है। यह 'अरिहन्त' संज्ञा इस दृष्टि से भी ठीक बैठ जाती है कि तीर्थंकर का पवित्र मन से स्मरण, हमारे बाहर के और भीतर के भी सभी शत्रुओं का हनन कर देता है। जैन साधना का मूल मन्त्र 'नमो अरिहन्ताणं' है। उसके बाद सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोकवर्ती सभी साधुओं को नमस्कार किया जाता है।

जैन धर्म में तीर्थंकरों की पूजा के लिए, उनकी मूर्तियों के निर्माण और फिर मन्दिर में उनकी प्रतिष्ठा का विधान है। जैन साधना पद्धति में 'प्रणव' अर्थात् 'ओइम्कार' को भी स्थान मिला है। जैन धर्म में शक्ति की उपासना भी स्वीकार की गयी है। शक्ति

को चक्रेश्वरी, अजितबला, दुरितायी, कालिका, महाकाली आदि नामों से स्मरण किया जाता है। जैन धर्म में सरस्वती के पूजन को भी स्वीकार किया गया है, और उन्हें रोहिणी, प्रज्ञप्ति, शृंखला आदि नाम दिये गये हैं। योगमार्ग के षट्चक्र-वेध की प्रक्रिया को भी प्रकारान्तर से जैनाचार्यों ने स्वीकृति प्रदान की है।

जैन धर्म में सर्वाधिक महत्त्व आचार-संहिता को दिया गया है। जैनाचार्यों ने सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र पर विशेष बल दिया है। इन्हें जैन-धर्म का त्रिरत्न कहा जाता है। इनकी भली प्रकार सिद्धि के लिए सप्त-वासनाओं, यथा पर-स्त्री-समागम, द्यूत-क्रीड़ा, मद्य-पान, आखेट, परुष-भाषण, कठोर-दण्ड, अर्थ-दूषण, अर्थात् चोरी आदि, का निषेध किया गया है। इस से भी अधिक महत्व पंचमहाव्रतों, यथा-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, को दिया गया है। इन पंच-दिशाओं में तत्पर होने पर ही मनुष्य को जिनोपदिष्ट जीवन की संप्राप्ति होती है, जो उसे मोक्ष का अधिकारी बना देती है।

जैन दर्शन के इस अध्ययन से मुझे उस आध्यात्मिक दृष्टि, साधना-मार्ग तथा आचार-शास्त्र की कुछ जानकारी तो हो गयी थी, जिसका अंकन कलकत्ते के जैन मन्दिर की दीवालों पर है; लेकिन उन सूक्तियों और सुभाषितों की प्राप्ति नहीं हुई थी, जिनकी अनुगूंज कबीर, नानक आदि सन्तों की रचनाओं में मिलती है। इसके लिए अपभ्रंश में जैन कवियों द्वारा लिखे गये रचनात्मक साहित्य का अनुशीलन आवश्यक था; और संयोग से उसका कुछ परिचय मुझे काशी की नागरी प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित **हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास** के प्रथम खण्ड में मिला। इस ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य की पूर्व-पीठिका के रूप में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-रचनाओं का अध्ययन है। अपभ्रंश के जैन साहित्य पर अलग से विचार किया गया है; और उसमें जैन कवियों के आध्यात्मिक काव्य पर भी कुछ पृष्ठ हैं। उन्हीं में मुझे अपभ्रंश के जैन कवि जोइन्दु और रामसिंह की कुछ जानकारी मिली। जोइन्दु का मूल

नाम योगीन्द्र लिखा था; और फिर उनके **परमात्म प्रकाश, योगसार** और **सावयधम्म दोहा** पर विचार किया गया था। इन रचनाओं के जो अवतरण दिये गये थे, उनमें उन विचारों की कुछ झलक थी जिन्हें कालान्तर में सन्त कवियों ने अपनी रचनाओं में वाणी दी थी। **परमात्म प्रकाश** से अवतरित एक दोहा था :

वेयहिं सत्यहिं इंदियहिं जो जिय सुणहु ण जाइ।
णिम्मलझाणह जो विसउ सो परमप्पु अणाइ ।।

अर्थात्, परमात्मा वेद व शास्त्र आदि के अध्ययन तथा विभिन्न प्रकार की इंद्रिय साधनाओं से नहीं जाना जा सकता, वह तो केवल निर्मल ध्यान का विषय है।

जोइन्दु का ही एक और दोहा है :

जं सिव दंसणि परम सुहु पावहि झाणि करंतु।
तं सुहु सुवणि वि अत्थि ण वि मेल्लिवि देव अणंतु ।।

अर्थात्, जिस सुख की उपलब्धि ध्यान करते समय शिव के दर्शन से होती है, वह सुख उन अनन्त देव अर्थात् शिव को छोड़कर, इस संसार के जीवन-प्रवाह में और किसी तरह प्राप्त नहीं होता। जोइन्दु ने इन पंक्तियों में उस परम सत्ता का शिव के रूप में स्मरण किया है। इससे ज्ञात होता है कि जैन कवियों ने शिव को भी अपने देवमण्डल में स्थान दिया है।

जोइन्दु के समकालीन जैन कवि रामसिंह ने अपने **पाहुड दोहा** की एक द्विपदी में शिव के साथ शक्ति को भी याद किया है :

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुण सत्ति विहीणु।
दोहिं मि जाणहि सबलु जगु बुज्झइ मोह विलीणु ।।

अर्थात्, शिव, बिना शक्ति के सक्रिय होने में सर्वथा असमर्थ हैं; शक्ति के अभाव में शिव पूर्णतः रिक्त होते हैं। इस मोह में खोये संसार का वास्तविक रूप दोनों के समन्वित रूप को जानने पर ही जाना जा सकता है। अतः साधक को इन दोनों के सम्मिलित रूप के माध्यम से ही इस जगत् की वास्तविकता को जानने की कोशिश करना चाहिये।

सन्त-काव्य के सन्दर्भ में रामसिंह का एक और दोहा उल्लेखनीय है :

वहुवह पढियइं मूढ़ पर तालु सुक्खइ जेण ।
एक्कु जि अक्खर तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ।।

अर्थात्, अरे मूढ़, तूने बहुत पढ़ा है, लेकिन उससे तुझे केवल यही लाभ तो हुआ है कि तेरा तालु सूख गया है; उस एक अक्षर को क्यों नहीं पढ़ता, जिससे शिवपुरी अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। कविवर रामसिंह ने यहाँ जैन धर्म के एकाक्षर मन्त्र 'प्रणव' अर्थात् 'ओइम्' की ओर संकेत किया है। लेकिन कबीर ने अपने प्रसिद्ध दोहे में, प्रेम के ढाई अक्षर पढ़ने की बात कही है। रामसिंह ने नाम-स्मरण पर बल दिया है; लेकिन कबीर ने सामान्य जीवन में और आध्यात्मिक साधना में भी प्रेम का दर्शन अपनाने की बात कही है। इन जैन कवियों ने आध्यात्मिक साधना के अतिरिक्त आचार-व्यवहार के लिए जो पंक्तियाँ लिखी हैं, सन्त कवियों की रचनाओं में उनकी प्रतिध्वनि भी देखने को मिलती है।

जैन कवियों के आध्यात्मिक काव्य के इस संक्षिप्त परिचय से मुझे यह तो भली प्रकार भान हो गया कि इन कवियों ने सन्त-कवियों को अपने अध्यात्म-चिन्तन, साधना-मार्ग तथा आचार-व्यवहार के स्तरों पर प्रभावित किया था। मुझे लगा कि यह तो अनुसन्धान का बड़ा अच्छा विषय बन सकता है; लेकिन यह कार्य उसी व्यक्ति को अपने हाथों में उठाना चाहिए जिसने जैन दर्शन और साहित्य का भली प्रकार अध्ययन किया हो। संयोग से उन्हीं दिनों बन्धुवर श्री शीतल प्रसाद जैन और श्रीमती सूरजमुखी जैन मुझसे मिलने आये। श्रीमती जैन ने मेरे साथ अनुसन्धान-कार्य की इच्छा प्रकट की। मैंने कहा कि मेरे पास एक ऐसा विषय है— 'अपभ्रंश का आध्यात्मिक रहस्यवादी काव्य और कबीर।' उन्होंने कहा कि वे इस सम्बन्ध में अधिकारी विद्वान अपने गुरुवर डॉ० नेमि

(शेष पृष्ठ २३ पर)

चक्रवर्ती भरत का ऐतिह्य

—डा० शशि कान्त

कर्मभूमि का प्रादुर्भाव होने पर सभ्यता के विकास की अपेक्षा से कुछ काल्पनिक उद्भावनायें की गईं जिनमें सर्वप्रमुख है शलाका पुरुषों (Key Persons) की कल्पना। शलाका पुरुष मानवीय सभ्यता के विकास क्रम में शलाका या कुन्जी (Key) का काम करते हैं। आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष के प्रतीक रूप में तीर्थंकर की कल्पना की गई, तो लौकिक वैभव के प्रकर्ष के प्रतीक रूप में चक्रवर्ती सम्राट की कल्पना की गई। ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रति-नारायण की कल्पना मनुष्य की सद्प्रवृत्तियों और सद्-असद्प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप में की गई। शान्ति, कुन्थ और अरह चक्रवर्ती और तीर्थंकर दोनों सूचियों में हैं, अतः शलाका पुरुषों की वास्तविक संख्या ६३ न होकर इस काल खण्ड में मात्र ६० ही होती है। सभी २४ तीर्थंकर और ९ बलभद्र इसी भव से कर्मक्षय करके संसार-चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उक्त तीर्थंकर चक्रवर्तियों के अलावा ९ चक्रवर्तियों में से ७ मुक्तिलाभ करते हैं और २ नरकगामी हैं। प्रति-नारायण असद्प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और नारायण उनका दमन करके सद्प्रवृत्तियों की श्रेष्ठता विख्यापित करते हैं, परन्तु दोनों ही यद्यपि भावी तीर्थंकर होंगे, सम्प्रति नरकगामी हैं और पुनः जन्म धारण करने पर अपने गन्तव्य को पहुंच सकेंगे।

(पृष्ठ २२ का शेष)

चन्द्र जैन जी (अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, एच० डी० जैन कालेज, आरा) से बातचीत करेंगी। डॉ० जैन को यह विषय बहुत अच्छा लगा था, और उन्होंने स्वीकृति दे दी थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस शोध-प्रबन्ध की परीक्षक के रूप में विशेष प्रशंसा की थी।*

---

*समीक्षा **शोधादर्श**-२९ में पृ० १८८–९० पर प्रकाशित है।

मानवीय सभ्यता के विकास में संघर्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। प्रयत्न करने, कार्य करने और साभिप्राय ऐसा कार्य करने जो सफलता प्राप्त कराये, की प्रेरणा संघर्ष प्रदायी है। अपने चारों ओर के पर्यावरण में जो भी प्रकृति की देन है, उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए संघर्ष सभ्यता की पहली सीढ़ी है। प्रकृति से संघर्ष करने के लिए मनुष्य को एक संगठन की आवश्यकता अनुभूत हुई, संगठन को चलाने के लिये एक व्यवस्था आवश्यक प्रतीत हुई, और उस व्यवस्था का नियमन करने के लिए एक सत्ता की अनिवार्यता की प्रतीति हुई। सत्ता का आधार पहले व्यक्ति ज्येष्ठता बना और व्यक्ति श्रेष्ठता में उसकी परिणति हुई। सारी सत्ता एक ही व्यक्ति में सिमट कर रह गई, और उस व्यक्ति को प्रमुख, राजा, एकराट् या सम्राट के नाम से अभिहित किया गया। जो सत्ता से वंचित रहा, यदि उसमें सामर्थ्य हुई तो उसने सत्ताधारी के विरुद्ध विद्रोह किया और जब विद्रोह व्यापक हो गया तो उसने क्रान्ति का रूप ले लिया। जब क्रान्ति के प्रस्तोता स्वयं सत्ता में आ गये तो उन्होंने फिर स्वयं एकतन्त्र की ओर प्रयाण किया।

पिछले सौ वर्षों का विश्व का इतिहास उक्त परिदृश्य का साक्षी है। राजनैतिक दलों में आला कमान (High Command) के रूप में हम इस एकतन्त्रात्मक प्रवृत्ति को देख सकते हैं। जो भी सर्वोच्च नेता, अधिपति या सम्राट होगा वह समस्त आर्थिक संसाधनों और प्राकृतिक सम्पदा को अपने आधिपत्य में लाना चाहेगा और इस प्रयत्न में लगा रहेगा कि उसके नीचे से कुर्सी खिसक न जाये वरन् उसके वंशजों की ही बपौती बनकर रह जाये। इसी कारण ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार (primogeniture) की व्यवस्था की गई, निर्वाचन में रिगिंग (rigging) और गुटबन्दी का बेझिझक प्रयोग किया जाने लगा, और दूसरों को आर्थिक संत्रास देने के विभिन्न उपाय सोंचे जाने लगे ताकि वे हमारी अधीनता स्वीकार कर लें। यही लौकिक वैभव का प्रकर्ष, सार रूप में चक्रवर्तित्व, अपनी समुन्नत अवस्था में है।

पुरावशेषों के आधार से विश्व में मानव सभ्यता के विकास का इतिहास प्रायः दस हजार वर्ष का अनुमान किया जाता है। सभ्यता के ज्ञात केन्द्र उत्तरी अफ्रीका में नील नदी की घाटी, पश्चिम एशिया में दजला और फरात नदियों की घाटी, पूर्व एशिया में यांग-सि-क्यांग और ह्वांग-हो नदियों की घाटी, और दक्षिण एशिया के भारत प्रायद्वीप में सिन्धु नदी, गंगा नदी और गोदावरी नदी की उपत्यकायें रहीं हैं। सिन्धु नदी की उपत्यका से मोहनजोदड़ो नामक स्थान पर खुदाई से लगभग ६००० वर्ष प्राचीन मिट्टी की मुद्रायें मिली हैं। एक मुद्रा पर एक पुरुष एक अन्य पुरुष की वन्दना कर रहा है। वन्दना करते पुरुष के पीछे एक सुसज्जित बैल है जो उसका वाहन प्रतीत होता है, और यह उसके राजत्व को भी सूचित करता है। नीचे सात मानव आकृतियाँ हैं जो सभी वस्त्र धारण किये हुए हैं और नारी रूप प्रतीत होती हैं। एक के सिर पर मुकुट-सा भी है जो उसके अग्रमहिषी होने का सूचक हो सकता है। शेष के शिरस्त्राण कुछ-कुछ वैभिन्य लिये हैं जो कदाचित उनके वरिष्ठता-क्रम या प्रास्थिति को सूचित करते हैं। इस चित्र का रेखांकन नीचे दिया जा रहा है।

यह चित्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि भारतीय प्रायद्वीप में राजकीय वैभव का यह अधुनाज्ञात प्राचीनतम अंकन है। मुद्रा पर लेख भी है

परन्तु वह अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। उस काल की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में प्रचलित राज-सत्ता के चित्रांकनों से यह चित्र अद्भुत साम्य रखता है। नील घाटी के फराहो (Pharaoh), तथा दजला-फरात की घाटी में बेबिलोनिया के सुलैमान (Solomon) जिसका उल्लेख **तौरात, इंजील (Bible)** और **कुर्आन-शरीफ़** में आता है, इसके उदाहरण हैं। इससे यह सूचित होता है कि मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही—

१. आध्यात्मिक उत्कर्ष को लौकिक वैभव की अपेक्षा वन्दनीय माना जाता था;

२. राज्य सत्ता का प्रतीक एक सुसज्जित वाहन होता था जो राजपुरुष के साथ रहता था; और

३. राज्यश्री का एक लक्षण परिचर्या हेतु स्त्रियों का बाहुल्य था।

जैनेतर भारतीय पौराणिक गाथाओं में स्वायम्भव मनु को मानव सभ्यता का आदि प्रस्तोता माना गया है। इनके पुत्र प्रियव्रत और पौत्र नाभि थे। नाभि ने इस भूखण्ड को 'अजनाभ' संज्ञा प्रदान की। नाभि की पत्नी मरुदेवी से वृषभ या ऋषभ हुए और ऋषभ के एक-सौ पुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे जिन्हें ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते पिता का राज सिंहासन प्राप्त हुआ। भरत अपने पितामह नाभि से भी अधिक प्रतापी थे और अब उनके नाम से यह भूखण्ड 'भारतवर्ष' कहलाने लगा।

'भरत' का अर्थ होता है 'भरण और रक्षण करने वाला'। यह सूचित करता है कि भरत ने एक व्यवस्था का नियमन किया जिसने तत्कालीन मानव जाति को एक व्यवस्थित संगठन प्रदान किया ताकि प्रकृति को मानव अपने अनुकूल बना सके और अन्य प्राणि समुदायों से अपनी रक्षा कर सके। व्यक्ति के रूप में भरत की ऐतिहासिकता सुनिश्चित करना सम्भव नहीं है, परन्तु सत्ता की सर्वोच्चता और लौकिक वैभव के प्रकर्ष की एक अवधारणा के रूप में इसे एक ऐतिहासिक तथ्य माना जा सकता है।

जो भी पौराणिक गाथायें, चाहे वे जैन पुराणकारों द्वारा रची गई हों अथवा ब्राह्मणीय पुराणकारों द्वारा प्रस्तुत की गई हों, गत दो हजार वर्ष से प्राचीनतर नहीं हैं। ब्राह्मणीय पुराणों की रचना ४थी-५वीं शती ईस्वी में सामान्यतः मानी जाती है और इनके बीज रूप **रामायण** और **महाभारत** का रचनाकाल, शोधक विद्वानों द्वारा, ईसा पूर्व २री-१ली शती अनुमान किया जाता है। जैन परम्परा में विमलसूरि का **पउमचरियं** अधुनाज्ञात सर्वप्राचीन चरित्र या पुराण काव्य है और यह ईसापूर्व प्रथम-ईस्वी प्रथम शती की रचना है। प्रथम जैन महापुराण कवि परमेश्वर का **वागार्थ संग्रह** है जिसका समय लगभग ४०० ईस्वी अनुमानित है। जिनसेन सूरि पुन्नाट के **हरिवंशपुराण** की रचना ७८३ ई० में, स्वामी जिनसेन के **आदिपुराण** की रचना ८३७ ई० में और हेमचन्द्र सूरि के **त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र** की रचना १२वीं शताब्दी ईस्वी में हुई। भरत को लेकर जो विविध कथानक और कथायें प्रकाश में आये हैं वे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में बाद के हैं।

इन पौराणिक कथानकों को ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में लिया जाना समीचीन नहीं है। इन कथानकों के आधार से उत्खनन आदि से प्राप्त पुरावशेषों को परिभाषित किया जाना भ्रमोत्पादक है और ऐतिहासिक दृष्टि से इतिहास को काल्पनिक या मिथक बनाने का दुराग्रह मात्र है। कल्पित कथा (fiction) मनोरंजन कर सकती है, किसी विषय को दृष्टांकित करने का माध्यम हो सकती है, और कभी-कभी किसी ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति या स्थान को समाहित भी कर सकती है, परन्तु वह ऐतिहासिक दस्तावेज (document) नहीं होती और ना ही ऐतिहासिक कथ्य का निरूपण करती है। अतः इन कथाओं के आधार से चक्रवर्ती भरत के इतिहास को निबद्ध करना और उसे एक ऐतिहासिक प्रलेख के रूप में प्रस्तुत करना, धार्मिक या साम्प्रदायिक हठधर्मिता या कदाग्रह का उदाहरण मात्र तो हो सकता है परन्तु इतिहास नहीं।

जैन एवं जैनेतर पौराणिक एवं अन्य कथा साहित्य में भरत के सम्बन्ध में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रतिभासित होते हैं—

१. मानव सभ्यता के आदि युग में एक ऐसा पुरुष हुआ जिसने मानवीय संगठन को व्यवस्थित कर सत्ता का एक स्वरूप प्रतिष्ठापित किया।

२. अपनी जाति या समुदाय का भरण और रक्षण करने की अपेक्षा से उसे 'भरत' संज्ञा दी गई।

३. सत्ता के सर्वोच्च प्रकर्ष के रूप में चक्रवर्ती की सार्वभौम सत्ता की कल्पना की गई।

४. सत्ता अविभाज्य रहे इसलिये ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार के सिद्धान्त की प्रस्तावना की गई।

५. सभी प्रकार की निधियां चक्रवर्ती के अधीन करके उसका आर्थिक संसाधनों पर सम्पूर्ण प्रभुत्व स्वीकार किया गया।

६. स्त्री को सम्पत्ति, भोग्या और ऐश्वर्य का प्रतीक माना गया, और इसकी पुष्टि स्वरूप ९६,००० रानियों की कल्पना कीगई।

७. जिस समयावधि में इन पुराण कथाओं की रचना हुई, उस समय के भौगोलिक ज्ञान के अनुसार रचनाकारों ने छह खण्ड पृथ्वी को भारतीय प्रायद्वीप में ही परिसीमित कर दिया। आज का कथाकार इस छह खण्ड को वर्तमान में अभिज्ञात सात महाद्वीपों से समीकृत करना चाहेगा।

८. सत्ताधारी के लिये अपने अधिकार का उपभोग अनासक्त भाव से करना अभीष्ट है ताकि जनता में व्यवस्था की निष्पक्षता और नियम-निष्ठा के प्रति विश्वास बना रहे।

९. सत्ता निष्कण्टक होनी चाहिए, अतः सत्ता के प्रति दावेदारों (contenders) को पराभूत किया जाना अपेक्षित है और

(शेष पृष्ठ २९ पर)

बारहमासा में बारहभावना

—डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

बारहमासा एक काव्य रूप है। हिन्दी में इस काव्य रूप का प्रयोग आरम्भ रूप से ही हुआ है। हिन्दो से पूर्व के साहित्य में अनेक नवीन काव्यरूपों का उदय हुआ और उनका उपयोग हिन्दी तक आते-आते प्रायः समाप्त भी हो गया। कुछ ऐसे काव्य रूप भी उदित हुए जिनका उल्लेख केवल मनीषी ग्रन्थों तक ही सीमित रहा परन्तु बारहमासा काव्य रूप का प्रयोग अपभ्रंश काल से आधुनिक हिन्दी तक प्रत्येक शताब्दि में होता रहा है।

हिन्दी के अनेक कवियों ने अपने बड़े काव्यों में प्रासंगिक रूप से तो इसका उपयोग किया ही है, बहुतों ने 'बारहमासे' नाम से कितने ही स्वतन्त्र काव्य भी लिखे हैं। ऐसे स्वतन्त्र बारहमासों की एक सुदृढ़ परम्परा प्राचीन काल से ही मिलती है। यह परम्परा अन्य अनेक काव्य रूपों से कुछ वैशिष्ट्य भी रखती है। बहुत से ऐसे काव्य-रूप हैं, जो हमें आज केवल उच्च साहित्य के स्तर पर ही मिलते हैं, उनके नाम तथा विषय का वर्णन शास्त्रों में ही उपलब्ध होता है, पर बारहमासा लोक-क्षेत्र में भी अत्यन्त प्रिय है। अनेक ऐसे गेय बारहमासे मिलते हैं जो कभी उच्च साहित्य में नहीं गिने जायेंगे पर जो सामान्य लोक में पढ़े-गाये जाते हैं और 'फुट-पाथ' साहित्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, या जो स्त्रियों के कण्ठों पर ही

(पृष्ठ २८ का शेष)

इसके लिए कि वे रास्ते से हट जायें तथा आगे भी संकट न पैदा करें, सभी उपाय क्षम्य एवं अनुमन्य हैं।

उपरोक्त विवेचन चक्रवर्ती भरत के व्यक्तित्व को एक वैचारिक ऐतिहासिकता प्रदान करता प्रतीत होता है। यह वैचारिक अवधारणा किसी भौगोलिक सीमा से आबद्ध नहीं थी वरन् यह विश्वव्यापी थी और विभिन्न भूभागों में वहाँ के स्थानिक परिवेश के सापेक्ष उसकी व्याप्ति हुई। ★

विराजते हैं और सावन-भादों की गहरी घटाओं के घटाटोप में वृक्ष की शाखाओं पर पड़े फूलों पर ही लोक में उभरते-मिलते हैं। अतः लोक साहित्यिक, फुटपाथीय, उच्च साहित्यिक जैसे विविध स्तरों पर उसे मान्यता प्राप्त है।

बारहमासा की यह परम्परा धर्म और नीति के क्षेत्र में भी अवहेलित नहीं है, और प्रासंगिक रूप से उच्च से उच्च काव्य में भी रसाभिव्यक्ति का एक प्रकृष्ट साधन बनकर प्रस्तुत होती है। कबीर जैसे सन्त का काम भी बारहमासे के बिना नहीं चलता, प्रेम-आख्यानक के रचयिताओं को इसे अपनाना पड़ा है। जैन साहित्य में भी यह अत्यधिक उपयोग में आया है। शास्त्रीय परम्परा के रस-अलंकार वादी कवियों ने भी इसके माध्यम से अपना चमत्कार दिखाया है। फलतः यह काव्य-रूप अत्यन्त व्यापक है और विविध प्रसंगों में इसका प्रयोग होता रहा है।

तीर्थंकर, आचार्यों, मुनियों के जीवन पर आधृत तमाम बारहमासे विविध शताब्दियों में रचे गये हैं। इस दृष्टि से नेमि-राजुल पर रचे बारहमासों की संख्या सर्वाधिक है। **नेमि-राजुल बारहमासा** प्रश्नोत्तर शैली में रचा गया है और इसके रचयिता हैं विनोदीलाल। नेमि-राजुल वैवाहिक अनुष्ठान के अवसर पर निरीह पशुओं की चीत्कार को सुन-समझकर नेमिकुमार यकायक वैराग्य धारण करते हैं और राजुल देवी प्रत्येक महीने की प्रकृति के उल्लेख के साथ मानव-शरीर और जीवन से उन प्रकृति-तत्त्वों के विचलित करने वाले प्रभाव की ओर संकेत कर उनसे वैराग्य त्याग कर घर पर रहने का आग्रह करती हैं। प्रत्येक महीने की प्रकृति के प्रभाव का समाधान नेमिकुमार एक-एक भावना के द्वारा करते हैं। बारह भावनायें बारहमासा में क्रमशः राजुल की जागतिक समस्याओं का सटीक समाधान व्यक्त करती हैं। यहाँ अब उन्हीं भावनाओं का अध्ययन करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

वैराग्य धारण करने पर राजुल नेमिकुमार से अनुरोध करती है कि जब आप वैवाहिक अनुष्ठान में सम्मिलित हुये, साथ में

अगणित प्रतिष्ठित वरयात्रियों के सम्मुख 'निशान' आदि वाद्ययन्त्रों का उपयोग किया गया, फिर यकायक वैराग्य धारण करना क्या उपहास नहीं है ? और अब यदि वैराग्य धारण करना निश्चित ही है तो राजुल का प्रस्ताव है कि उसे आगामी आषाढ़ मास में धारण कर लीजिए।

राजुल के घर लौट चलने के दो आग्रह महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो यह कि इतने बड़े-बड़े लोगों के सामने आप यों विरक्त होकर चले आये इसमें कोई बड़ाई नहीं, अपयश ही है। दूसरे यह कि विवाह के उपक्रम के साथ ही त्याग का उपक्रम, ठीक चढ़ती अवस्था में भोग का त्याग असमीचीन है। आषाढ़ मास में ही तो विरह प्रबल होता है। कालिदास के यक्ष को 'आषाढ़' में ही पत्नी-वियोग उद्दीप्त हुआ था।

नेमिनाथ जी राजुल के इन दोनों आग्रहों की 'अनित्य भावना' से काट कर देते हैं। वे राजुल देवी को समझाते हुये कहते हैं कि बड़ाई अथवा यश का क्या मूल्य है जबकि जीवन ही निशि-स्वप्न की भांति भंगुर हैं। भाई, पुत्र-कलत्र आदि सभी स्वजन ही इस संसार में चार दिन के मेहमान हैं, फिर बारात के मेहमानों की क्या गिनती ? यह शरीर जल की बूँद की तरह क्षणिक और अस्थिर है। क्या बड़ाई और क्या लज्जा ? अतः सिद्ध मार्ग ही श्रेष्ठ है। सिद्धों के जपने से जागतिक विरह व्यथा भी निस्तेज हो जाती है।

राजुल देवी कहती हैं कि श्रावण मास में चतुर्दिक मन को उद्दीप्त करने वाले व्यापार होते हैं। घनघोर घटायें, विद्युत का चमकना, कोयल-मयूरों की कूकें हृदय में उत्तेजना उत्पन्न करती हैं। तप भंग हो, इससे अच्छा है कि घर ही लौट चलें।

'अशरण भावना' का उल्लेख कर नेमिकुमार इन क्षणिक आक्रमणों के बचाव की चिन्ता न कर, जीवन को संकट मुक्त करने के लिए धर्म की शरण में जाने का उल्लेख करते हैं। जब इस संसार में देव, इन्द्र, नारायण, हर, ब्रह्मा आदि देवताओं तक को

मृत्यु से बचने के लिये कोई शरण नहीं है, तो ऐसे असार संसार में साधारण व्यक्ति भला किसकी शरण पा सकता है। अतः श्रावण मासी प्रकृति से भयभीत न होकर इस संसार को ही क्यों न त्याग दिया जाय क्योंकि यहाँ कोई शरण ही नहीं है।

भाद्र मास में घनघोर वर्षा होती है। तीव्र वायु बहती है। राजुल देवी कहती हैं कि हे प्रियतम ! इस ऋतु में आप अपनी रक्षा किस प्रकार करेंगे ? ऐसी विषम परिस्थिति में 'शिव सुन्दरि' की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः घर पर ही योग साधना करना सर्वथा समीचीन है।

'संसार भावना' के द्वारा राजुल को समझाते हुए नेमि जी कहते हैं कि संसार में सुख नहीं है। जब जीव चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के दारुण दुःखों को भोगता है तब भला भाद्रमास की वर्षा की क्या बिसात ? भयंकर वर्षा निगोद के दुःखों से अधिक कष्टकारी नहीं है।

क्वार मास में क्षण-क्षण में घन गर्जन, तीक्षण वर्षा, तेज हवाओं के झोंके, ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद ऋतुओं का व्यतिक्रम चित्त की स्थिरता को भंग करने में सर्वथा सक्षम हैं, राजुल एतदर्थ घर लौट चलने का आग्रह करती हैं।

'एकत्व भावना' का उल्लेख करते हुये नेमि कुमार राजुल को यथार्थ से अवगत कराते हुये कहते हैं कि ये पर-पदार्थ और पर-कीय साधना जीव का कुछ भी बना-बिगाड़ नहीं पाते। प्रत्येक जीव अपना कर्म स्वयं ही करता है फिर भला यह प्रकृति उसे किस प्रकार प्रभावित कर सकती है।

कार्तिक मास में समस्त भामिनियाँ अपने-अपने घरों को अलंकृत करती हैं। नव वधुयें शृंगार कर अपने-अपने प्रियतमों को आमन्त्रित करती हैं। राजुल देवी मनोवैज्ञानिक वातायन से झांक कर कहती हैं कि जब हमारा हृदय ऐसे वातावरण में रिक्त होकर दग्ध होगा तो हे प्रिय, आपका हृदय भी अवश्य प्रभावित होगा।

अतः ऐसे वातावरण में आपका घर वापस लौट आना सर्वथा श्रेयस्कर है।

राजुल को 'अन्यत्व भावना' समझाते हुए नेमिनाथ जी कहते हैं कि जीव और उससे सम्बन्धित सभी बाह्य तत्त्व अन्य हैं। यह जीव अपनी अज्ञानता में अपने शरीर को अपना समझकर अनेक प्रकार के दुःखों की अनुभूति करता है। आत्मा समस्त बाहरी तत्त्वों से भिन्न है।

अगहन मास की हिम ऋतु का उल्लेख करती हुई राजुल ध्यान आकर्षित करती हैं कि इस मास में शीतल हवायें चला करती हैं। शीतल नीर-समीर वस्तुतः हृदय में प्रेम को जगाते हैं। यह ऋतु वस्तुतः प्रत्येक नायिका को अपने नायक के पास रहने को संस्तुत ही नहीं, अपितु बाध्य भी करती है।

'अशुचि भावना' का उल्लेख करते हुये नेमि जी राजुल देवी को समझाते हैं कि यह शरीर सर्वथा अपावन है। इस पर चाम की चादर ऊपर से मढ़ी हुई है, अन्तर में खेह से भरी हुई है। यहाँ कृमि-कीटों का नीड़ है। यह अस्थि-पंजर विनिर्मित है और यहाँ मल-मूत्र का स्रोत है। ऐसे अपावन शरीर से ममता रखना व्यर्थ है। इस रहस्य को जान लेने के बाद भला इस मास की प्रकृति हमें किस प्रकार प्रभावित कर सकेगी।

पौष मास की कठिन शीत का उल्लेख करती हुई राजुल देवी नेमि जी से अनुरोध करती हैं कि अपने कोमल शरीर की कामोद्दीपक शीतलता से किस प्रकार रक्षा कर सकेंगी। उसे देखते ही शरीर काँप जाता है।

'आस्रव भावना' से राजुल देवी की चिन्ता का निवारण करते हुए श्री नेमिकुमार कहते हैं कि जब मोह आदि भावों का उदय होता है, उस समय जीव को प्रकृति के बाहरी तत्त्वों का प्रभाव अनुभव हुआ करता है। पंच इन्द्रियों के द्वारा राग-द्वेषादि से सम्बन्ध स्थापित हुआ करते हैं। अष्टमद का बाहुल्य जीवन को प्रभावित

करता है। जब इससे सम्बन्ध समाप्त कर दिया है तब पौष की शीत का भय नहीं है।

माघ मास के घोर तुषारपात का उल्लेख करती हुई राजुल देवी गिरनार पर्वत पर ठहरने की कठिनाई की ओर नेमि जी का ध्यान आकर्षित करती हैं। मनुष्य का शरीर शीत और ग्रीष्म तत्त्वों को सहन करने में प्राय: असमर्थ है। यह योग की साधना किसी अन्य मास में सम्पन्न करने की राजुल देवी प्रार्थना करती हैं।

सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत और कषायों का जीतना और योग अवरुद्धि अर्थात् आस्रव का रोकना, वस्तुत: संवर कहलाता है। पंच इन्द्रियों पर नियन्त्रण अर्थात् संयमी जीवन से अष्टमदों को सहज ही त्यागा जा सकता है। इसी प्रकार हे राजुल देवी! समताभाव के द्वारा पर-द्रव्य ममत्व की भावना मन से समाप्त की जा सकती है।

फाल्गुन मास भी योग-साधना के लिये उपयुक्त नहीं है। राजुल देवी कहती हैं कि इस मास में चारों ओर होली का वातावरण छाया रहता है। विविध वाद्ययन्त्रों, रंगों से भरीं झोलियाँ तथा पिचकारियाँ भर-भर कर जब होली खेली जायेगी तब उस समय हे प्रियतम! योग-साधना भला किस प्रकार सध सकेगी?

नेमि जी निर्जरा अर्थात् कर्मों की जीर्णता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि पांच प्रकार की सखियाँ अर्थात् समितियों से अष्ट कर्मों का क्षय किया जा सकता है। होली की भांति अष्टकर्मों को जला कर साधक सहज और सुगमता पूर्वक मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

चैत्र मास की प्राकृतिक सुषमा का उल्लेख करती हुई राजुल रानी कहती हैं कि चारों ओर बासन्ती वातावरण व्याप्त है। कामिनी-नायिकायें अपने-अपने प्रियतमों के साथ पुष्पों की भांति उत्फुल्लित हैं। हे नेमि जी! ऐसी विषम परिस्थिति में आप घर लौट चलिये अन्यथा आप संसार में उपहास के पात्र बनेंगे।

'लोक भावना' का उल्लेख करते हुये नेमि जी राजुल से कहते हैं कि इस लोक का आधार विशिष्ट है। इसका कोई कर्त्ता नहीं है। यह आदि-अनादिकाल से ऐसे ही चला आया है। इसमें हास और उपहास की क्या बात है ?

बैशाख मास की ऋतु अत्यन्त उष्ण होती है। राजुल देवी कहती हैं कि इस मास में शीतल जल की प्यास प्रायः सताया करती है। पर्वत श्रेणियों पर तपश्चरण भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? राजुल देवी घर आकर सिद्धत्व प्राप्ति की प्रार्थना करती हैं।

श्री नेमि जी 'बोधि-दुर्लभ भावना' के द्वारा राजुल देवी को समझाते हुए कहते हैं कि यह मनुष्य गति अत्यन्त दुर्लभ है। दश-लक्षण धर्म तथा षोडसभावना का चिन्तवन अत्यन्त दुर्लभ है, अतः इस गति का सद् प्रयोग करने के उद्देश्य से यह वैराग्य धारण करना वस्तुतः हमें इष्ट और अभीष्ट है।

राजुल देवी ज्येष्ठ मास की प्रकृति का जब उष्ण हवायें अर्थात् 'लू' चलती है, कड़ी-कड़ी झुलसाने वाली धूप पड़ती है और भू भाड़ की नाईं जलती है, उल्लेख करती हैं। संसार के पक्षी, कीट, पतंग तक सभी जीव ऐसी भयंकर उष्णता में अपने-अपने घरों की शरण लेते हैं। ऐसी विषम स्थिति में तप करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?

'धर्म भावना' का उल्लेख करते हुए नेमि कुमार राजुल देवी से कहते हैं कि धर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। धर्म से ही पृथ्वी और स्वर्ग के बड़े-बड़े पदों, शिव मार्ग आदि की प्राप्ति होती है। संसार में इससे बढ़ कर और कोई दूसरा मार्ग साधना के लिये नहीं है।

इस बारहमासे में राजुल सांसारिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं और प्रत्येक मास में प्रकृति के उद्दीपनों और मानवीय व्यापारों का उल्लेख करती हैं। उनकी दृष्टि नेमि जी के कुशलक्षेम और तप में

दृढ़ बने रहने तक रहती है, सामान्य विरहिणी या प्रेमिका की भांति वह अपनी पीड़ा प्रकट नहीं करतीं, अपितु नेमि जी पर ही आने वाले संकटों का ज्ञान कराकर उन्हें तप से विमुख करना चाहती हैं। नेमि नाथ तप का पक्ष अथवा धार्मिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करके बारह-भावनाओं का सफल प्रतिपादन करते हैं।

सन्दर्भ :

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (सं०) : **हिन्दी साहित्यकोश**

२. डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया : **हिन्दी का बारहमासा साहित्य : उसका इतिहास तथा अध्ययन**

३. **हिन्दी जैन कवियों का काव्य शास्त्रीय मूल्याङ्कन**

४. **स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा**

५. **ज्ञाणार्णव**

६. पंडित दौलत राम : **छह ढाला**

७. आचार्य पूज्यपाद : **सर्वार्थ सिद्धि**

८. आचार्य उमास्वामि : **तत्त्वार्थसूत्र**

९. विनोदी लाल : **नेमि-राजुल बारहमासा**

——

पर्यावरण और जीवदया

पशुओं के प्रति क्रूरता निवारण अधिनियम

—श्री कैलाश भूषण जिन्दल

शोधादर्श २७ व २८ में, उपर्युक्त स्तम्भ के अन्तर्गत, दिल्ली के उप-न्यायाधीश श्री सी० के० चतुर्वेदी के ईदगाह की पशु-वधशाला को नरेला में स्थापित करने की सरकारी योजना पर प्रतिबन्ध-आदेश से प्रासंगिक अंश दिये गये थे। इस क्रम में हम उस ऐतिहासिक निर्णय के प्रस्तर ६५–७४ नीचे उद्धृत कर रहे हैं :—

"अबोध पशुओं के प्रति दुर्व्यवहार हो रहा है, उसकी प्रतिक्रिया भारत में पाश्चात्य देशों से भिन्न है। पश्चिम के देश इस बात को स्वीकार नहीं करते कि जो प्राण चेतना मनुष्य में है, वही पशु में है। वह तो प्रकृति पर विजय पाने में लगे हैं, और उनकी दृष्टि में पशु केवल एक चल-सम्पत्ति है। हाँ, पशुओं पर वह इतनी कृपा अवश्य करते हैं कि मारने के पहले उन्हें विद्युत प्रघात से अचेतन कर देते हैं। यन्त्रों द्वारा पशु की हत्या तुरन्त कर दी जाती है और वह तड़पा-तड़पा कर नहीं मारा जाता। इसके विपरीत, भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य और प्रकृति में एक सामंजस्य के फलस्वरूप पशुओं के प्रति उग्र व्यवहार निषिद्ध है। पशुओं के प्रति सहानुभूति धर्म है। मानव और अवमानव में समान रूप से सहज-बोध है। पशुओं के प्रति आमानवीय क्रूर व्यवहार मनुष्य की गरिमा को शोभा नहीं देता।

हमारे संविधान का अनुच्छेद २१ कहता है कि किसी व्यक्ति को उसके प्राण से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जायेगा, अन्यथा नहीं। जब हमने एक बार मान लिया कि मनुष्य और पशु में समान रूप से जीवात्मा है, तो क्या 'व्यक्ति' की परिभाषा में पशु नहीं आते ?

हम प्रौढ़ अपने बच्चों के प्रति बहुत गैर जिम्मेदारी का व्यवहार करते हैं। एक ओर तो हम अपने बच्चों से अशोक, गौतम बुद्ध

और महावीर स्वामी के धर्मोपदेशों के अनुसार सब प्राणियों में प्रेम भाव रखने को कहते हैं, दूसरी ओर बच्चों की पुस्तकों में यह पाठ है कि सन्तुलित आहार के लिए जावत प्रोटीन आवश्यक है। इसी प्रकार तीसरी और चौथी कक्षा की पुस्तकों में लिखा है कि मनुष्य का जबड़ा और दाँत हिंसक पशुओं की अपेक्षा शाकाहारी पशुओं के जबड़े और दातों से अधिक मिलते हैं। हमारी करनी और कथनी में इतना अन्तर है कि हम अपने बच्चों के सरल प्रश्नों का भी उत्तर नहीं दे पाते और असंगतियों के प्रति उनकी जिज्ञासा का उन्हें कोई हल नहीं मिलता। गाँधी, बुद्ध और महावीर का हम औपचारिक रूप से साल में एक बार स्मरण कर लेते हैं, पर उनके विचारों पर कोई ध्यान नहीं देता है। यह तो वही बात हुई कि पार्थिव शरीर की तो निन्दा की जाये और छाया को आदर दिया जाए। बच्चों को बताया जाता है कि पशु हमारे मित्र हैं और कई प्रकार से हमारे लिये उपयोगी हैं। पर भोजन की मेज पर, होटल और भोजनालयों में जब बड़े लोग सामिष व्यंजनों को मंगाते और शौक से खाते हैं, तब पशुओं के प्रति जो सहानुभूति का पाठ बच्चों को पढ़ाया गया था, उसे सब भूल जाते हैं। पर्यावरण के प्रति हमारी यह अमैत्री पूर्ण प्रकृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी अवचेतन में चलती जा रही है।

पशुओं के प्रति क्रूरता निवारण अधिनियम, १९६०, को क्रियान्वित करने के लिए इस शताब्दी के छठे दशक में पशु कल्याण परिषद की स्थापना की गई। यद्यपि १९६० का अधिनियम पशुओं की अकाल मृत्यु को रोकने में सक्षम नहीं हुआ, फिर भी उनके प्रति की जाने वाली दैनिक क्रूरता पर अंकुश लगाने के लिए इस अधिनियम ने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। इस अधिनियम को पारित करने का श्रेय शासन को नहीं है। पशु के प्रति दयाभाव का सन्देश सुदूरदक्षिण से आया। मद्रास (चेन्नई) से निर्वाचित सांसद श्रीमती रुकमणि देवी ने पशुओं के प्रति क्रूरता निवारण विधेयक लोक सभा के समक्ष रखा। इस विधेयक का प्रेरणा-स्रोत क्या था ? श्रीमती रूकमणी देवी एक दिन मद्रास की पशुवधशाला देखने गईं। वहाँ

उन्होंने देखा कि एक गाय और उसके पीछे उसके बछड़े को वधशाला की ओर हंकाया जा रहा था। बछड़े की आँखों के सामने उसकी माँ के पैर और गला काटे गए, ताकि धीरे-धीरे उसके शरीर से सारा रूधिर बह निकले। तत्सम्बन्धी विधेयक एक समझौता था। विधेयक में पशुओं को अनावश्यक वेदना न देने का प्राविधान है। उसमें पशु-वध का निषेध नहीं है, केवल इतना ही कहा गया है कि जब पशु दया का पात्र न रहे, तभी उसकी हत्या की जाये, अन्यथा नहीं।

विधेयक ने जब अधिनियम का रूप लिया तो ऐसा मालूम होता था कि अशरफी लुटायें और कोयले पर मोहर। अधिनियम के अन्तर्गत पशु-बेधन अपराध है, पर उसकी हत्या नहीं। इसी तरह आयुर्विज्ञान के लिए पशुओं के प्रयोग पर नियन्त्रण है, परन्तु उनके वध पर नहीं। मनुष्य के भोजन के लिए कौन पशु मारे जायें, इसकी अधिनियम में कोई सूची नहीं। परिणाम यह है कि भोजन के नाम पर किसी भी पशु की हत्या की जा सकती है, चाहे वह हत्या खाने के लिये की गई हो या अन्य व्यापार के लिए। पशु को भोजन के लिए किस दशा में और किन परिस्थितियों में मारा जाए, इसका अधिनियम में कोई विवरण नहीं है। मनुष्य की आवश्यकता के बहाने, व्यापारियों के लोभ की आपूर्ति की जा सकती है। अधिनियम में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि पशुओं को जीने का अधिकार है।

अधिनियम के अन्तर्गत जिस परिषद का गठन किया गया, वह परिषद पर्यावरण मन्त्रालय के अधीन है, परन्तु वधशालायें जिनमें निरन्तर अनियमित पशु-वध होता हैं, कृषि विभाग के अधीन हैं। दोनों, एक दूसरे के लिये अजनबी हैं, जबकि दोनों के कार्यक्षेत्र का सीधा सम्बन्ध पशुओं के जीवन से है। १९७२ के विश्व पर्यावरण सम्मेलन के बाद संसद ने एक अधिनियम पारित किया। वन्य जीवों की कुछ जातियों के सर्वदा के लिये नष्ट होने से रोकने के लिए यह अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम द्वारा वन्य जीवों की तो कुछ हद तक रक्षा हो गई, परन्तु हमारे पशुधन की रक्षा का कोई पूछने वाला नहीं है।" ★

चिन्तन कण

स्थापना-निक्षेप की अवधारणा

—श्री सुखमाल चन्द जैन

[“नाम स्थापना द्रव्यभाव तस्तन्न्यास :” (**तत्त्वार्थ सूत्र** १–५)। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदि का लोक व्यवहार होता है। ...... धातु, काष्ठ, पाषाण आदि की प्रतिमा तथा अन्य पदार्थों में “यह वह है” इस प्रकार किसी की कल्पना करना सो स्थापना-निक्षेप है........। वयोवृद्ध स्वाध्याय रसिक श्री सुखमाल चन्द जैन ने स्थापना-निक्षेप की अवधारणा पर गहन चिन्तन किया है। उनके कुछ चिन्तन कण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।—सम्पादक]

स्थापना-निक्षेप का प्रयोग प्रयोजन वश सब ही करते हैं। विज्ञान में hypothesis (परिकल्पना) के नाम से विचार का प्रारम्भ करते हैं। रेडियम आदि के जितने आविष्कार हुए हैं, वैज्ञानिक पहले Hypothesis बनाते रहे हैं और अपने अनुमान पर अटल रहे हैं, तभी सम्भव हो सके हैं। प्रारम्भ सब योजनाओं का कपोल-कल्पना की भूमि पर ही होता है। शिल्पकार उसी पाषाण में मूर्ति उकेरता है जिसमें उसको मूर्ति साक्षात् मिलती है।

व्यवहार सब ही स्थापना के आधार पर है, इसी कारण परमार्थ से व्यवहार असत्यार्थ-अभूतार्थ-झूठा है (अरे जिया जग धोखे की टाटी)।

स्थापना का प्रयोग आसान नहीं है। धातु-पाषाण की मूर्तियों में तीर्थंकरों की स्थापना के लिए सदाचारी-सम्यग्दृष्टि प्रतिष्ठाचार्य अपने पूरे आत्मबल से मन्त्रशास्त्र-निर्देशित मन्त्रों की लाखों बार जाप करके मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा होने की पूर्ण श्रद्धा करता है। उनकी पूजनीयता स्थापित करके पहले स्वयं पूजा करता है। अब उसको धातु-पाषाण दिखना समाप्त होता है। साक्षात् भगवान् के दर्शन होते हैं। उक्तं च –

"सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।"

जिस स्थापना में श्रद्धा की उत्पत्ति न हो गयी हो, वह स्थापना टूटे मिट्टी के पात्र की तरह व्यर्थ है। आज जैन समाज का ९९% श्रद्धा के भावों से दर्शन-पूजन-रथयात्रा-आरती-कीर्तन आदि क्रियायें नहीं कर रहा है तो उसमें कोई मनोबल, वचोबल, आत्मबल, निर्भयता, बौधि, समाधि की उपलब्धि नहीं हो रही है।

सब स्थापनायें कपोल-कल्पित होती हैं, किन्तु जिनमें दृढ़ निश्चय की श्रद्धा होती है वे चमत्कार उत्पन्न करने वाली होती हैं। सीताजी का अग्निकाण्ड सरोवर बनता है। झाड़-फूँक करने वाले श्रद्धावान् व्यक्ति सफल होते हैं। वरदान-अभिशाप का भी यही रहस्य है।

आचार्यों की प्रयोजनभूत स्थापनायें–लोक रचना, क्षीर सागर, जन्माभिषेक का ऐरावत, १–४–८ योजन-परिमाण कलश आदि स्थापनायें भक्ति की उत्पत्ति-प्रोत्साहन के लिये थीं। उन आचार्यों को तो श्रद्धा थी ही–जिनमें आज भी भक्तिभाव उत्पन्न हो रहा है उनको पूरा लाभ हो रहा है। जो शंका कर रहा है, वह उन रचनाओं का प्रयोग न करे। जिसमें उसकी श्रद्धा बन सके, वैसी स्थापना कर ले। मन्त्र में भी श्रद्धा की शक्ति है।

मनुष्य धर्म में आत्म वैभव का विश्वास जागृत करने के उद्देश्य से मन्त्रों का प्रयोग करता है। मन्त्र hypnotism–mesmarism–auto-suggestion की विधियों के रूप में हैं। अनादि काल के कर्म-संस्कारों, परावलम्बन, पराकर्षण, परासक्ति के मोह (पागलपन) में आत्मा ने स्वयं को दीन-हीन, अशक्त व असमर्थ बनाया है, समझ रखा है। इस स्थिति को विपरीत करना आसान काम नहीं है।

नारायण का देहान्त हो जाता है तो बलभद्र उसके शव का छः महीने तक दाह-संस्कार नहीं होने देता है। मोहवश उसे सोया हुआ जीवित ही मानता रहकर प्रलाप करता रहता है। उसको

संबोधने के लिये बुद्धिमान उसके सामने ऐसी मूर्खतापूर्ण क्रियायें करते हैं जिन्हें देखकर पागल बलभद्र भी उनसे बोले बिना नहीं रह पाता है ।

तब संबोधने वाले बलभद्र से कहते हैं कि तुम हमें मूर्ख कहते हो—अपनी तरफ भी तो देखो कि क्या कर रहे हो । इस प्रकार 'लोहे को लोहा काटता है' की लोकोक्ति के अनुसार असम्भव की स्थापनाओं से ही संसारी जीव का पागलपन इस प्रकार दूर होता है कि वह उन असम्भव स्थापनाओं में शङ्का करता है । तब धर्म प्रत्युत्तर में कहता है कि तेरी शरीर-परिवार-मित्र-धन-सम्पत्ति-भोगों में ममत्व-अहंकार की स्थापना भी तो असम्भव—मूर्खतापूर्ण हैं, उनको दूर कर ।

आकाश के (द्रव्य के) अनन्त आयाम हैं । प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने लिये असम्भव लोक-रचना—अकृत्रिम चैत्यालयों की स्थापना करता है तो उसके लिये वह स्थापना श्रद्धा के कारण वास्तविक है। जैसे अन्धकार में रस्सी को सांप देखने वाला व्यक्ति सांप की श्रद्धा से भयभीत होकर प्राण त्याग देता है ।

निपुण शिक्षक मेधावी छात्र की सफलता में विश्वास रखता हुआ परिश्रम करता है ।

अनुभवी डाक्टर रोगी को स्वस्थ के रूप में देखता हुआ चिकित्सा करता है ।

ऐसे ही धर्म और धर्मगुरू मोही-रागी (उन्मत्त) मानव को अनन्तचतुष्टय-मण्डित अमूर्त निरञ्जन अविनाशी आत्मा के रूप में देखता है ।

बौद्ध सम्प्रदाय बुद्ध को भगवान और निर्वाण प्राप्त मानते हैं पर अन्य तो ऐसा नहीं मानते । यह बौद्धों की स्थापना है । हिन्दू भगवान महावीर को सिद्ध कहाँ मानते हैं । यह भी जैनों की स्थापना है । ★

भक्तामर स्तोत्र की एक सचित्र प्रस्तुति

—श्री अजित प्रसाद जैन

आदिनाथ स्तोत्र या स्तोत्र के प्रथम शब्द को ही नाम रूप में ग्रहण किये हुए **भक्तामर स्तोत्र** भक्ति काव्य की एक अनूठी कृति है जिसका जैन वाङ्मय में एक विशिष्ट स्थान है। इस अवसर्पिणी काल के कर्म युग की आदि में जन्मे प्रथम तीर्थंकर आदि धर्माचार्य भगवान ऋषभदेव की स्तुति में रचित इस भक्ति काव्य का प्रत्येक श्लोक मन्त्र गर्भित है तथा लाखों भक्त जन इसका नियम पूर्वक प्रतिदिन पाठ करके अपूर्व सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं। यह स्तोत्र जैन धर्म की सभी आम्नाओं—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापन्थी—में समान रूप से समादृत है तथा देश-विदेश की जितनी भाषाओं में इसके मधुर पद्यानुवाद हुए हैं, उतने किसी अन्य स्तोत्र के नहीं हुये हैं। इस स्तोत्र के अन्तिम श्लोक की अन्तिम पंक्ति में मानतुंग शब्द आने से यह माना जाता रहा है कि इसके रचयिता कोई आचार्य मानतुंग सूरि थे या मानतुंग नाम के कोई भक्त कवि। किन्तु इस नाम के किसी आचार्य या कवि की कोई अन्य रचना उपलब्ध न होने के कारण यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस कालजयी कृति के कर्त्ता का नाम मानतुंग ही था। इस स्तोत्र की अन्तिम पंक्तियों के अर्थ सामान्य रूप से यही किए जाते रहे हैं कि "जो कोई इस स्तोत्र का भक्ति पूर्वक पाठ करेगा वह मानतुंग के समान शिव-लक्ष्मी प्राप्त करेगा", किन्तु मानतुंग नाम के किसी मुनि के मोक्ष गमन का कोई उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त नहीं होता। वैसे भी विपुल प्राचीन जैन वाङ्मय में रचनाकारों का नामोल्लेख कदाचित् ही किसी कृति में उपलब्ध होता हो। यदि **भक्तामर स्तोत्र** में कवि ने 'मानतुंग' शब्द से अपना नामोल्लेख किया है तो यह परम्परा से हट कर ही है। अखिल भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस के मुख पत्र **जैन प्रकाश** (पाक्षिक) के दि० २३ जून, १९९६, के अंक

में **भक्तामर स्तोत्र** के अन्तिम श्लोक के अर्थ निम्न प्रकार किए गए हैं—

> "हे जिनेन्द्र ! मैने भक्ति भाव से आपके गुणों की स्तोत्र माला रची है जो मनोहर वर्ण (शब्द) रूप बहुरंगी भावों/पुष्पों से युक्त है। जो भक्त जन आपकी भक्ति में लीन होकर इस स्तोत्र माला को कण्ठ में धारण करेगा वह **जगत के ऊंचे से ऊंचे सम्मान** को प्राप्त होगा तथा समृद्धि/स्वर्ग/मोक्ष लक्ष्मी स्वयं ही उसके पास चली आयेगी।"

जैन प्रकाश के प्रत्येक अंक के प्रथम कवर पृष्ठ पर **भक्तामर स्तोत्र** का एक श्लोक सचित्र तथा सार्थ क्रमवार प्रकाशित किया जा रहा है। चित्र बड़े ही भव्य तथा श्लोक के भाव की सजीव अभिव्यक्ति होते हैं किन्तु पत्र के दि० ७ फरवरी, १९९७, के अंक में स्तोत्र के छठे श्लोक का जो चित्रीकरण प्रस्तुत किया गया है वह कुछ अटपटा है। चित्र में मध्य में एक मुनि श्री (आचार्य सम्राट स्व० श्री आनन्द ऋषि जी) का चित्र है जिसके बायीं ओर ५ भक्त जन खड़े हैं तथा दाहिनी ओर स्तुति कर्ता भक्त खड़ा है, नीचे कोकिलाओं सहित आम्र वृक्ष दर्शाया गया है।

संयोग से **जैन प्रकाश** का यह अंक स्व० आचार्य सम्राट की जन्म-जयन्ति के सुअवसर पर प्रकाशित हुआ है, अतः **भक्तामर स्तोत्र** के छठे श्लोक के चित्रीकरण में भगवान आदीश्वर जिनेन्द्र की प्रतिमा के चित्र के स्थान पर स्व० आचार्य श्री का चित्र दे कर चित्र पर निम्नलिखित शीर्षक अंकित किया गया है—

> "स्तुति काव्य के अधिकारी हैं आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी म०। जन्म-जयन्ति पर कोटि-कोटि अभिनन्दन।"

स्व० आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी एक महान सन्त थे, सरल स्वभावी थे, तपस्वी थे, बहुश्रुत थे तथा जिन शासन के एक प्रभावक (स्था०) आचार्य थे, हम भी उनका बहुमान करते हैं तथा उनकी जन्म-जयन्ति पर अपनी विनयांजलि अर्पित करते हैं।

आचार्य सम्राट अपने भक्त जनों द्वारा ऊंची से ऊंची स्तुति के अधिकारी माने जायें, इसमें भला किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। किन्तु जिन शासन में कोई भी महान से महान आचार्य भगवान जिनेन्द्र का स्थान नहीं ले सकता। किसी प्राचीन भक्त शिरोमणि आचार्य विरचित भक्तामर काव्य का या उसके किसी श्लोक का किसी आचार्य की स्तुति में उपयोग करना हमारी समझ में अनुचित है, इस उत्कृष्ट भक्ति काव्य का अवमूल्यन करना है।

कुछ विद्वानों का मत है कि **भक्तामर स्तोत्र** केवल प्रथम तीर्थंकर आदि जिनेश्वर भगवान ऋषभदेव का ही भक्ति गान न हो कर सभी तीर्थंकरों की स्तुति में रचा गया काव्य है क्योंकि सभी तीर्थंकर एक नये युग के प्रर्वतक थे तथा इस प्रकार अपने युग के प्रथम जिनेन्द्र थे। हम इससे सहमत नहीं हैं। हमारा मानना है कि जैन वाङ्मय में "जिनेन्द्र" संज्ञा केवल तीर्थंकरों के लिये प्रयुक्त हुई है जबकि अन्य केवली भगवन्त "जिन" कहलाते हैं, इस अवसर्पिणी काल खण्ड में केवल २४ ही जिनेन्द्र हुए हैं, युग भी दो ही कहे जा सकते हैं—नौ कोड़ा-कोड़ी सागर का भोग भूमि युग तथा एक कोड़ा-कोड़ी सागर का कर्म भूमि युग, तथा कर्म भूमि युग के आदि में हुये तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ही प्रथम जिनेन्द्र थे। जैन मन्दिरों में जिनेन्द्र भगवानों (अर्थात् तीर्थंकरों) की ही प्रतिमाएं होती हैं, अन्य जिनों (केवली भगवन्तों) की सामान्यतया नहीं।

——

इतिहास-मनीषी डा० ज्योति प्रसाद जैन की जन्म-जयन्ति

६-२-१९९७ को ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ में इतिहास-मनीषी विद्यावारिधि स्व० डा० ज्योति प्रसाद जैन की ८५वीं जन्म-जयन्ति पर नगर के प्रबुद्धजनों की एक गोष्ठी डा० पूर्ण चन्द्र जैन की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। स्व० डाक्टर साहब के चित्र पर माल्यार्पण और उन के प्रिय **महावीराष्टक स्तोत्र** के सस्वर पाठ एवं उनके द्वारा रचित **वीतराग स्वरूपम्** व **जय महावीर नमो** के सामूहिक गायन के साथ गोष्ठी का शुभारम्भ हुआ।

सर्वश्री अजित प्रसाद जैन, नरेश चन्द्र जैन, रतन चन्द्र गुप्त और डा० पूर्ण चन्द्र जैन ने स्व० डा० साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व सम्बन्धी अपने संस्मरण सुनाते हुए उन्हें अपनी विनयांजलि अर्पित की।

श्री प्रकाश चन्द्र जैन 'दास' ने सरस्वती वन्दना की और डाक्टर साहब को अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये—

सरस्वती के पुत्र मानस प्रेरणा के स्रोत थे।
सौम्य वाणी मधुरता से नित्य ओत: प्रोत थे॥

स्वभाव में थी सरलता चित्त में नहीं अभिमान था।
नम्रता के भाव से मिलता सदा सम्मान था॥

नाम ज्योति प्रसाद था तुम ज्ञान ज्योति पुञ्ज थे।
साहित्य उपवन के परम पावन सुरम्य निकुंज थे॥

सरस्वती की साधना में ही तुम्हारा ध्यान था।
सतत् चिन्तन यत्न द्वारा प्राप्त निर्मल ज्ञान था॥

परिवार में रह कर भी तुम निर्लिप्त जलज समान थे।
जिन धर्म में तन-मन सहित तुम पूर्ण श्रद्धावान थे॥

सत्कर्म के प्रति हर समय जागृत तेरा विवेक था।
जगत का कल्याण केवल ध्येय तेरा एक था॥

सशक्त थी तव लेखनी अध्यात्म विषयों के लिए।
इतिहास के भी तथ्य अनेकों प्रकट तुमने कर दिये ।।
साहित्य तेरा "दास" जग की है अनुपम सम्पदा।
श्रद्धा सुमन अर्पित तुम्हें करते रहेंगे हम सदा ।।

डा० महावीर प्रसाद जैन ने काव्य पाठ किया और अपनी भावाञ्जलि प्रस्तुत की—

विद्यावारिधि काल पुरुष हे
ज्योति पुंज सुखकारी
काल चक्र फिर आ पहुंचा है
लेकर याद तुम्हारी।

समय पंथ पर चरण बढ़ाता
चलता हुआ निरन्तर
एक महान ज्योति की स्मृति
सहज समेटे अन्तर।

तव वन्दन में, अभिनन्दन में
ज्ञान-प्रभा आलिंगन में
श्रद्धांजलि अर्पित करता है
पावनता मन में भरता है।

हृदय पटल पर लिखी हुई है
उज्जवल कीर्ति तुम्हारी
अक्षय मधुमय चिरस्थायी
अनुपम प्रीति तुम्हारी।

जो कुछ कहा लिखा तुमने
सब शिरोधार्य हैं करते
शब्द तुम्हारे अन्तरिक्ष में
अब भी कहीं विचरते।

ग्रन्थ लिखे जन मन हितकारी
शोधपूर्ण सुखदायी
धार्मिक व्याख्याओं ने जिसमें
नयी दृष्टि थी पायी।

सादा जीवन उच्च विचारों को
तुमने अपनाया
धर्म समाज देश की सेवा
करने में सुख पाया।

अखिल प्रकृति करती वन्दन है
हम सब करते अभिनंदन हैं
जन्म दिवस पर ज्योति पुंज के
अर्पित ये कुछ भाव सुमन हैं।

काल चक्र फिर आ पहुंचा है
लेकर याद तुम्हारी
विद्यावारिधि काल पुरुष हे
ज्योति पुंज सुखकारी।

कविवर श्री रवि कुमार अवस्थी, डा० मयंक किशोर शुक्ल 'मयंक', डा० अजय प्रसून, कु० वाणी जैन, इंजी० राजीव कान्त, डा० शशि कान्त और श्री रमा कान्त जैन ने भी अपनी काव्य-सुधा से गोष्ठी को सरस बनाया।

इस अवसर पर डा० शशि कान्त की अध्यक्षता में 'ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट' की वार्षिक बैठक भी सम्पन्न हुई।

—रमा कान्त जैन

——

साहित्य सत्कार

नवनीत, प्रकाशक—ऋषि प्रकाशन, ९७/५ए, सिविल लाइन, झांसी; पृष्ठ-८७, परिशिष्ठ (पृष्ठ ७४); मूल्य रु० १५/-

इस प्रकाशन में मुनि श्री क्षमासागर जी तथा ऐलक द्वय श्री उदय सागर व श्री सम्यक्त्व सागर के सानिध्य में दि० जैन अतिशय क्षेत्र करगुवां जी (झांसी) में दि० २९—३० सितम्बर व १ अक्टूबर, १९९५, को सम्पन्न हुई 'जैन विज्ञान विचार संगोष्ठी' में पढ़े गए १० शोध पत्रों का संकलन प्रस्तुत किया गया है। परिशिष्ट में इन्हीं मुनि श्री के सानिध्य में गुना (म० प्र०) में दि० २६—२८ अगस्त, १९९४, को सम्पन्न हुई प्रथम 'जैन विज्ञान विचार गोष्ठी' में पढ़े गए २१ शोध पत्रों का संकलन भी प्रस्तुत किया गया है। धर्म को विज्ञान से एवं विज्ञान को धर्म से जोड़ने का प्रयास ही इन गोष्ठियों का उद्देश्य था। सभी शोध पत्र पठनीय एवं ज्ञानवर्द्धक हैं तथा इन दोनों गोष्ठियों की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

निष्कर्ष—तृतीय जैन विद्या विचार संगोष्ठी ९६, संयोजक—डा० नेमिचन्द जैन (सम्पा० तीर्थंकर); प्राप्ति स्थान—श्री अशोक दोषी, १५/१, साउथ तुकोगंज, इन्दौर; पृष्ठ ९०

मुनि श्री क्षमासागर जी एवं ऐलक श्री उदयसागर व सम्यक्त्वसागर जी के पावन सानिध्य में इन्दौर में दि० २४-२७ अक्टूबर, १९९६, को सम्पन्न 'जैन विद्या विचार संगोष्ठी' में पढ़े गए ८ शोध पत्रों का संकलन इस प्रकाशन में प्रस्तुत किया गया है। संगोष्ठी का उद्देश्य धर्म के भीतर छिपे विज्ञान को अभिव्यक्त करना तथा धर्म को विज्ञान की भाषा देकर सरल और सुगम बनाना था। जैन जगत के जाने-माने विद्वानों द्वारा पठित ये सभी शोध पत्र स्तरीय तथा ज्ञान वर्द्धक हैं। संकलन संग्रहणीय है।

परमात्मा होने का विज्ञान (जैन धर्म), ले०-श्री बाबू लाल जैन; प्रकाशक—श्री प्रभात जैन, ९/२३२९, गली नं० १२, कैलाशनगर, दिल्ली-३१; पृष्ठ-७१

विद्वान लेखक ने इस ट्रैक्ट में जैन धर्म का सार तत्व सरल सुबोध शैली में संक्षेप में प्रस्तुत किया है। जीव केवल अपने पुरुषार्थ एवं अपने अनुभव के द्वारा ही परमात्म पद या मोक्षपद प्राप्त कर सकता है। जहाँ अन्य धर्म अशुभ भावों से हटकर शुभ कर्मों द्वारा मुक्ति प्राप्ति बताते हैं, वहाँ जैन धर्म के अनुसार पुण्य-पाप दोनों शुभ-अशुभ कर्मों के बन्धन के हेतु हैं। जन्म-मरण से मुक्त होने के लिए जीव को कर्म-बन्ध के कारण-भूत राग-द्वेष का नाश करना होगा। जैन धर्म की साधना राग-द्वेष को दूर करने की साधना है। जिन धर्म पिपासुओं के पास मूल ग्रन्थों के अध्ययन के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं है उन्हें जैन धर्म का सम्यक् परिचय कराने में यह ट्रैक्ट उपयोगी सिद्ध होगी।

मन्त्र–शक्ति, प्रवचनकार–आचार्य श्री पुष्पदंत सागर, सम्पादक–मुनि श्री तरुण सागर, प्रकाशक-श्री अजय कुमार कासलीवाल पंछी, ९०/१, खातीपुरा चौराहा (जेल रोड), इन्दौर-४५२००७; पृष्ठ २३

आचार्य श्री ने अपने इस प्रवचन में बतलाया है कि मन्त्र सिद्धि से साधक इच्छित फल प्राप्त कर सकता है पर साधक को मन्त्र के प्रति अटूट आस्था होना चाहिए तथा गुरू द्वारा प्रदत्त मन्त्र ही कार्यकारी होता है। मन्त्र सिद्ध करने वाले का आसन, जाप, धूप-दान सब व्यवस्थित होना चाहिए, जीवन संयमित होना चाहिए तथा साधना अत्यन्त सावधानी पूर्वक करनी चाहिये। एक स्थल पर आचार्य श्री फर्माते हैं कि 'ज्यादा शास्त्र स्वाध्याय करने वालों पर सन्तों की वाणी का कोई असर नहीं होता। ऐसा एक भी पुरुष आज तक साधु नहीं बना। **पंडित-पुजारी-पादरी ऐसे कबूतर हैं कि कितने भी नगाड़े बजाओ इनमें परिवर्तन आने वाला नहीं है।**' प्रवचन ज्ञानवर्द्धक व रोचक है।

सागर में बूंद समाए, संकलन/संयोजन-मुनि समतासागर ; द्वि० सं० १९९४ ; पृ० १६७ ; प्राप्ति स्थान-श्री दिगम्बर जैन समाज, ११८०, क्वार्टर्स महावीर नगर, भोपाल

इस पुस्तक में आचार्य श्री विद्यासागर के विचार सूत्रों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है। ये विचार सूत्र, सुभाषित या सूक्तियां विषय-वार पांच खण्डों में विभक्त की गई हैं– संस्तुति, स्वाध्याय, साधना, धर्म-संस्कृति, तथा सत् शिव सुन्दरं। भक्ति, उपासना या आराधना से भक्त और भगवान की दूरी मिट जाती है। स्वाध्याय आचरण में सार्थक होता है और आचरण से आसक्ति का पुद्गलावर्ती रूप सूखता है, फलतः संवर और निर्जरा से मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। धर्म-संस्कृति खण्ड धर्म और धर्मात्मा, शास्ता-शासन, संस्कृति प्रवाह, तीर्थ, इतिहास आदि से सम्बन्धित है। अन्तिम खण्ड में न्याय-नीति, धर्म-नीति, वैराग्य प्रेरणा, कर्त्तव्य बोध व श्रेयस पथ से सम्बन्धित सूक्तियां संकलित हैं। आचार्य श्री के गहन चिन्तन के ये प्रसून सतत् चिन्तन-मनन की प्रेरणा देते हैं।

जैनागम नवनीत खण्ड ८–परिशिष्ट , ले०–श्री तिलोक मुनि ; प्रकाशक–आगम नवनीत प्रकाशन समिति, सिरोही ; प्राप्ति स्थान-श्री रतन सिंह जैन (अध्यापक), बजरंग कालोनी, पोस्ट विजय नगर-३०८ ६२४ (जिला अजमेर) ; १९९३ ; मूल्य-रु० २५/-

आगम-मनीषी श्री तिलोक मुनि जी ने श्वेताम्बर स्थानकवासी आम्नाय में मान्य प्राचीन प्राकृत भाषा में निबद्ध ३२ जैनागमों के अगाध ज्ञान का सारांश सरल सुबोध हिन्दी में 'जैनागम नवनीत' ग्रन्थ (आठ खण्डों में) प्रस्तुत करके हिन्दी जैन साहित्य में उल्लेखनीय योगदान किया है। खण्ड ८ में ऐतिहासिक परिशिष्ट (दो खण्डों में) देकर ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है। खण्ड १ (पृष्ठ १०४) में आगमों एव व्याख्या ग्रन्थों का इतिहास, परम्पराओं के रहस्य एवं विचारणाएं एक रोचक संवाद के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। खण्ड २ (पृष्ठ १०८) में ऐतिहासिक ऊहापोह के सामयिक समाधान देने का प्रयास किया गया है। तदनन्तर **आवश्यक सूत्र** सम्बन्धी कतिपय जिज्ञासाओं का समाधान, सामायिक एवं प्रतिक्रमण सूत्र विधि युक्त एवं प्रश्नोत्तर सहित दिये गये हैं।

जैनागम नवनीत का यह खण्ड रोचक जानकारियों का भंडार है तथा मुनि श्री के विश्लेषण व विवेचन सामान्यतया तर्क युक्त हैं। कुछ रोचक जानकारियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) पट्टावलियां (श्वे०) १२वीं–१३वीं शताब्दि से ही लिखित रूप में रखी जाने लगी हैं। **कल्पसूत्र** का वर्तमान में उपलब्ध प्रारूप भी इसी समय तैयार किया गया था। यह एक इधर-उधर से जोड़ा गया कल्पित सूत्र है।

(२) लेखन काल में कहीं-कहीं असद्बुद्धि से लिपिकों द्वारा एवं कहीं-कहीं स्वार्थवश या स्वछन्द मति के आग्रह से श्रमणों द्वारा भी प्रक्षेप एवं परिवर्तन हुए हैं। यथा, **आचारांग** आदि शास्त्रों में मांस, मत्स्य आदि सामिष भोजन सम्बन्धी पाठ जो मांसाहार को नरक का द्वार बताने वाले गणधरदेव द्वारा कथित होना कदापि सम्भव नहीं है। [ऐसे प्रक्षेपों आदि के कारणों से ही दिगम्बर आम्नाय के द्वारा इन आगमों को अमान्य किया गया। —सम्पादक]

(३) यह भी एक कल्पित कथा है कि (अन्तिम श्रुत केवली) भद्रबाहु स्वामी ने जिन शासन की आवश्यक सेवा को छोड़ कर बारह वर्ष की एकल विहारी साधना की थी। उनके द्वारा की गई महाप्राण साधना जैसी कोई चीज आगमों में नहीं है। (दि० आम्नाय के भद्रबाहु कथानक में इन दोनो प्रसंगों का कोई उल्लेख नहीं है।—सं०)

(४) भद्रबाहु स्वामी की कथा के लिए, स्कंधिलाचार्य के समय तथा देवर्द्धि के आगम लेखन के लिए १२ वर्ष का दुष्काल पड़ना कल्पना मात्र है।

(५) १४ पूर्वी, १० पूर्वी या गणधर कृत जो आगम हैं (अर्थात् वीर नि० सं० १००० के भीतर रचे गये शास्त्रों में) किसी भी साधु या श्रावक के जीवन में मन्दिर बनवाने या बनाने की प्रेरणा करने और उससे जल्दी मोक्ष जाने आदि का लेशमात्र भी कथन नहीं है। आदि, आदि।

किन्तु तर्क युक्त विश्लेषण करने वाले आगम-मनीषी मुनि श्री

भी पंथ व्यामोह के दुराग्रह के ऊपर नहीं उठ पाये हैं। 'दिगम्बर धर्म किसने और क्यों चलाया' इस प्रश्न का उत्तर देते हुये मुनि श्री लिखते हैं—

"......एक बार एक श्रमण 'शिवमूर्ति' को राजा की प्रसन्नता से एक रत्नकंबल मिला। श्रमण का उस पर अत्यधिक मोह हो जाने पर उसे निवारण करने के लिए गुरू ने उस कंबल के अनेक टुकड़े करके साधुओं को बांट दिये। यह हाल जब शिवमूर्ति को ज्ञात हुआ तो उसकी अशांति भड़क उठी, उसने स्पष्ट निर्णय सुना दिया कि 'वस्त्र है तभी आसक्ति है, अतः साधु को वस्त्र रखना ही नहीं'। यों कहकर उसने सारे वस्त्र वहीं डाल कर नग्न हो कर चल दिया और एकान्त नग्नत्व धर्म की प्ररुपणा प्रारम्भ कर दी। उसकी बहन साध्वी भी उसके पक्ष में होकर नग्न रहने लगी किन्तु वह लम्बे समय तक निर्वस्त्र न रह सकी। इसी कारण शिवमूर्ति ने दो प्ररुपणा प्रारम्भ कीं—१. वस्त्र सहित से मुक्ति नहीं, २. स्त्री को संयम और मोक्ष नहीं मिल सकता। और जब आगमों से इन सिद्धान्तों का खण्डन होने लगा, अपना आग्रह अप्रमाणिक होने लगा, तब इन शास्त्रों को ही खोटे कल्पित कह कर नये ही ग्रन्थों की रचना अपनी इच्छानुसार कर दी। इस प्रकार दिगम्बर मत का प्रचलन हुआ।"

मुनि श्री ने इस पुस्तक में यह जानकारी नहीं दी है कि दिगम्बर आम्नाय के विद्वेष में श्वेताम्बरों के किन आचार्य पुंगव ने इस कुत्सित कथा की कल्पना की तथा इसका उनकी आम्नाय के किस ग्रन्थ में समावेश है तथा इस ग्रन्थ का रचना काल क्या है। उनको यह भी स्पष्ट करना चाहिए था कि श्वेताम्बर अनेक नये ग्रन्थों की रचना करने वाले इन शिवमूर्ति मुनि या आचार्य को कब हुआ मानते हैं तथा उन्होंने कौन-कौन से ग्रन्थों की रचना की थी।

आगम-मनीषी जी एक अन्य स्थल पर श्वे० मूर्तिपूजक मुनि श्री कल्याण विजय के इस कथन का पूर्ण विश्वास के साथ समर्थन करते हैं कि "दिगम्बरों के द्वारा नग्न मूर्तियाँ मथुरा के स्तूप में बना कर रख दी गई तथा अन्यत्र भी इस प्रकार कर दिया गया। झूठे सच्चे शास्त्र गढ़े गए।"

इस पुस्तक में आगम-मनीषी जी ने एक विशिष्ट प्रसिद्ध प्राचीन ५३ श्रमणों की सूची भी दी है जिसमें भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य (वीर नि० सं० १०००), उमास्वाति वाचक, अमृतचन्द्र सूरि, अमित गति व देव सेन भट्टारक के नाम भी सम्मिलित हैं। कदाचित् आगम-मनीषी जी को दिगम्बर आचार्यों के विषय में समुचित जानकारी नहीं होगी अन्यथा वे आचार्य गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली, समन्तभद्र, अकलंक, पूज्यपाद, विद्यानन्दि, वीरसेन, जिनसेन जैसे महान् आचार्यों का उल्लेख करना न भूलते, ना ही आचार्य स्थूलभद्र के समकालीन आचार्य कुन्दकुन्द का समय ८०० वर्ष आगे खिसकाते। अच्छा होता यदि आगम-मनीषी जी ने अपनी पुस्तक को श्वेताम्बर आम्नाय तथा उसकी परम्पराओं तक ही सीमित रखा होता।

अध्यात्म पर्व पत्रिका (मासिक), जनवरी १९९७ ; सम्पादक व प्रकाशक—श्री नरेन्द्र कुमार जैन, १२८ चौधरयाना, झाँसी-२८४००२; मूल्य रु० ६०/- वार्षिक

पत्रिका का यह अंक **तत्त्वार्थ सूत्र** के दूसरे अध्याय के सूत्र छंद "उपयोगो जीव लक्षणम्" पर आधारित है तथा विभिन्न लेखों में 'उपयोग' शब्द तथा उसकी अवधारणा के विभिन्न आयामों का विशद विवेचन किया गया है। इस अंक के सभी लेख पठनीय हैं। पं० पद्मचन्द्र जी शास्त्री का लेख "सिद्ध और उपयोग" विशेष ज्ञानवर्द्धक है।

नेमिदूतम् (संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित)—विक्रम कवि विरचित पद्य संख्या ११२, व्याख्याकार—श्री धीरेन्द्र मिश्र; प्र०—**पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी**; १९९४ ; पृष्ठ १३९ ; मूल्य रु० ५०/-

महाकवि कालिदास की अनुपम कृति **मेघदूतम्** से प्रारम्भ हुई दूत-गीत काव्यों की विधा में जैनाचार्यों व श्रावक कवियों ने कई उत्कृष्ट गीत काव्यों की रचना से संस्कृत साहित्य को समुन्नत किया है किन्तु जहां जैनेतर दूत काव्य प्राय: वियोग शृंगार रस प्रधान हैं, जैन दूत काव्यों में शान्त रस (या वैराग्य भावना) की प्रधानता

है। श्वेताम्बर जैन श्रावक कवि विक्रम विरचित **नेमिदूतम्** भी एक ऐसी ही कृति है। इसके पद्यों की रचना **मेघदूतम्** के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण की समस्या पूर्ति के रूप में की गई है। विवाह भोज के लिये बंधे भक्ष्य-पशुओं के आर्तनाद से व्यथित होकर तथा संसार से विरक्त होकर नेमिकुमार पर्वत शिखर पर तप लीन हो जाते हैं, राजीमती सखियों सहित तपोभूमि में पहुंच कर उनसे लौट चलने के लिए अनुनय विनय करती है किन्तु नेमि प्रभु के उपदेश से स्वयं भी विरक्त हो कर तप लीन हो जाती हैं।

शीलदूतम्—चारित्र सुन्दर गणि विरचित (रचना काल-वि० सं० १४८२, हिन्दी अनुवाद—साध्वी प्रमोद कुमार जी; श्लोक सं० १३१), प्र०—श्री पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी; १९९३ ; पृष्ठ-४२ मूल्य रु० २०/-

नेमिदूतम् के समान यह कृति भी पादपूर्त्यात्मक शान्त रस प्रधान गीत काव्य है। इसमें मुनि स्थूलभद्र व उनकी पूर्व प्रेयसी कोशा के वैचारिक संघर्ष को संवाद के रूप में दर्शाया गया है जिसमें कोशा के प्रणय निवेदन की निष्पत्ति वैराग्य में होती है।

सागर जैन विद्या भारती (भाग १ व २), ले०—प्रो० सागरमल जैन; प्र०-पा० वि०, वाराणसी ; पृष्ठ-२६८ + १७६ ; १९९४-१९९५; मूल्य रु० १०० + १००/-

श्री पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी, के निदेशक प्रो० सागरमल जैन, जैन जगत के जाने-माने विद्वान हैं। जैन धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के क्षेत्र में उनका अध्ययन व लेखन बहुत व्यापक रहा है। उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, अभिनन्दन व स्मृति ग्रन्थों, संगोष्ठियों आदि के लिए समय-समय पर जो लेख लिखे हैं, उनमें से १८ प्रथम भाग में तथा १२ दूसरे भाग में संग्रहीत हैं। प्रथम भाग के प्रारम्भ में प्रोफेसर साहब के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय भी दिया गया है। सभी सामग्री ज्ञानवर्द्धक है।

तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी परम्परा, ले०-प्रो० *सागरमल जैन; प्र०—पा०* वि०, वाराणसी ; १९९४ ; पृष्ठ १४६; मूल्य रु० ३०/-

तत्त्वार्थ सूत्र संस्कृत भाषा में जैन धर्म और दर्शन का संक्षिप्त सूत्र शैली में निबद्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है। दस अध्यायों में विभक्त इसका प्रथम सूत्र मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन करता है। तदनन्तर षड् द्रव्यों व सात तत्त्वों का विवेचन कर मोक्ष की चर्चा की गई है। इसका रचनाकाल तीसरी शताब्दी ई० माना जाता है। जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों का यह किंचित पाठ भेद के साथ सर्व मान्य ग्रन्थ है तथा दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के विद्वान इसे अपनी ही परम्परा में निर्मित होना मानते हैं। कुछ विद्वान इसके कर्ता को विलुप्त यापनीय सम्प्रदाय (दिगम्बर-श्वेताम्बर के बीच की कड़ी) का आचार्य मानते हैं। विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस ग्रन्थ की रचना साम्प्रदायिक विघटन एवं साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के पूर्व हुई है।

हरिभद्र साहित्य में समाज एवं संस्कृति, ले०-डा० (श्रीमती) कमल जैन ; प्र०-पा० वि०, वाराणसी ; १९९४ ; पृष्ठ २२४ ; मूल्य रु० १००/-

आचार्य हरिभद्र सूरि (८वीं शताब्दी ई०) का जैन साहित्य को अवदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अप्रतिम प्रतिभा के धनी उन बहुश्रुत आचार्य ने जैन साहित्य की विविध विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई तथा विपुल साहित्य का सृजन किया। दर्शन, साहित्य, साधना और योग तथा समाज इन सभी के सन्दर्भ में उनका विशिष्ट अवदान है। कहा जाता है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु आज उनके ७३ ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। प्रस्तुत शोध कृति में विद्वान लेखिका ने हरिभद्र साहित्य में वर्णित समाज और संस्कृति के विविध आयामों का अपने गहन अध्ययन के आधार पर तलस्पर्शी विवेचन किया है। प्रारम्भ में आचार्य का जीवन वृत्त एवं उनके साहित्य का परिचय भी दिया है। हरिभद्र साहित्य के शोधार्थियों व अध्येताओं के लिए यह कृति विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

हे प्रभो ! यह तेरा पंथ !, (मासिक)—सम्पादक-प्रकाशक—डा० मानिक चन्द मालू, न० २१, रोजमेरी लेन, हावड़ा-१

डा० मानिक चन्द मालू तेरापंथ आम्नाय के सुश्रावक हैं। उन्हें इस बात से बड़ी पीड़ा है कि स्थानकवासी साधु संघ में व्याप्त जिस शिथिलाचार से क्षुब्ध होकर आचार्य भीखन जी ने अलग होकर तेरापंथ धर्म संघ की स्थापना की थी, आज उनके नवम् पट्टाचार्य गणाधिपति तुलसी जी तथा दशम् पट्टाचार्य महाप्रज्ञ जी के नेतृत्व में आचार्य भीखन जी के आदर्शों को भुला दिया गया है तथा तेरापंथ संघ में शिथिलाचार के नये कीर्तिमान स्थापित हो गए हैं। इस मासिक पत्रिका के द्वारा जिसे वे निःशुल्क वितरित करते हैं, वे प्रत्येक अंक में आचार्य श्री से श्रमणाचार सम्बन्धी कुछ खुले प्रश्न पूछते हैं। दि० २५ नवम्बर, १९९६, को प्रकाशित इस अंक में सम्पादक जी ने यह स्पष्ट किया है कि वर्तमान तेरापंथ संघ में साधु जीवन अब "खांडे की धार नहीं, फूलों की सेज है" तथा गृहस्थ जीवन और साधु जीवन में कोई अन्तर नहीं रह गया है। उनका कहना है कि पैसों की भीख—चन्दे की प्रेरणा, स्थानक में निबास तथा सर्व सुविधा युक्त भवनों का निर्माण, वाहन से यात्रा, नित नए बहु-खर्चीले समारोहों का आयोजन तथा राजनेताओं द्वारा उनका उद्घाटन, चेलों की भूख, महाव्रतों में चूक, आहार असंयम, नित नए घोटाले—ये सब तेरापन्थ को ले डूबने की निशानी हैं। पत्रिका में इन सभी पर सोदाहरण विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

ग्रन्थराज श्री पंचाध्याय जी—रचनाकार—कविवर राजमल्ल, हिन्दी अध्यात्म चन्द्रिका टीका—स्व० पं० सरना राम जी, सहारनपुर; प्रकाशक—श्री दि० जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अलवर ; प्राप्ति स्थान-श्री महावीर प्रसाद जैन, ३३२, स्कीम नं० १०, अलवर-३०१००१; न्यौछावर मूल्य ३० रु०/-

संस्कृत भाषा में १९०९ सूत्रों में निबद्ध ग्रन्थराज **पंचाध्याय जी** जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। ग्रन्थकार इस ग्रन्थ को पांच अध्यायों में पूर्ण करना चाहते थे तथा इसी कारण इसका नाम **पंचाध्यायी** रखा किन्तु किन्हीं अपरिहार्य कारणों से ग्रन्थ का केवल डेढ़ अध्याय ही लिख पाए। इस ग्रन्थ पर

इसके पूर्व पं० मक्खन लाल जी शास्त्री ने (वि० स० २४४४ में प्रकाशित) तथा पं० देवकीनन्दन सिद्धान्तशास्त्री ने (वि० स० २५१५ में प्रकाशित) टीकाएं लिखी हैं, किन्तु स्व० पं० सरनाराम जी की प्रस्तुत **अध्यात्म चन्द्रिका** टीका उन दोनों टीकाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा सुगम-सुबोध शैली में लिखी गई है।

ग्रन्थ दो खण्ड तथा सात पुस्तकों में विभक्त है। टीकाकार द्वारा दिए गये भावार्थ, विशेषार्थ एवं प्रश्नोत्तरी ने टीका को बहुत उपयोगी बना दिया है। जैन दर्शन के स्वाध्याय रसिकों के लिये यह ग्रन्थ बहुत महत्वपूर्ण है।

—अजित प्रसाद जैन

तमिलनाडु का जैन इतिहास, लेखक—पं० मल्लिनाथ शास्त्री ; प्रकाशक—श्री कुन्दकुन्द भारती, १८-बी, स्पेशल इन्स्टिटयूशनल एरिया, मेहरोली रोड, नई दिल्ली-११० ०६७ ; पृष्ठ १४७ सचित्र; मूल्य रू० १००/-

पुस्तक प्रणेता पं० मल्लिनाथ शास्त्री एक आस्थावान दिगम्बर जैन हैं और तमिलनाडु के निवासी हैं। उन्होंने तमिल विद्वानों के ग्रन्थों और स्वयं अपनी जानकारी के आधार पर इस पुस्तक में उपोद्घात्, पृष्ठभूमि, जैन धर्म की अभिवृद्धि, मत-संघर्ष, जैन धर्म का ह्रास, जैन आचार्यों की साहित्य सेवा, पवित्र जैन तीर्थ स्थल, आचार्य-परम्परा, भट्टारक-परम्परा, राज्यसत्ता एवं परम्परा, नामक परिच्छेदों और परिशिष्ट के माध्यम से तमिलनाडु में प्राचीन काल से अब तक जैन धर्म और जैन जन की स्थिति के इतिहास का विवेचन किया है। प्रारम्भ में समुन्नत दशा में रहे जैन धर्म का कालान्तर में तमिलनाडु में क्योंकर और किस प्रकार ह्रास हुआ इसका विवेचन तत्कालीन जैनेतर ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। इस पुस्तक से तमिलनाडु में ७९ ग्रामों/नगरों में रहने वाले दिगम्बर जैनों के रहन-सहन, खान-पान, पर्व-पूजा, जिनायतन आदि पर भी प्रकाश पड़ता है और उत्तर भारत में रहने वाले दिगम्बर जैनों के रहन-सहन, पर्व-पूजा पद्धति आदि से उसकी भिन्नता भी

विदित होती है। डा० प्रेमसागर जैन ने 'अभिमत' नाम से पुस्तक की भूमिका लिखी है। पुस्तक जानकारीवर्द्धक है।

रत्नकरण्डक-श्रावकाचार का हिन्दी भावार्थ, ले० मुनि श्री समता सागर ; प्रकाशक-अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद, १०, दरियागंज, नई दिल्ली-११० ००२ ; पृष्ठ ३२ + आवरण; मूल्य स्वाध्याय

द्वितीय शताब्दी ईस्वी (लगभग १२०-१८५ ई०) में हुए आचार्य समन्तभद्र द्वारा श्रावकों (गृहस्थों) के आचरण के सम्बन्ध में संस्कृत में रचित **रत्नकरण्डक-श्रावकाचार** नामक ग्रन्थ के १५० श्लोकों का हिन्दी भावार्थ मुनिश्री समतासागर जी ने सरल ढंग से किया है। पुस्तक श्रावकों के लिये पठनीय है।

परम दिगम्बर गोमटेश्वर, लेखक—श्री नीरज जैन; प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-११० ००२; पृष्ठ १७६; जनवरी १९९७ ; मूल्य रु० २५/-

मूर्तिपूजक श्वेताम्बर आचार्य सूरि-शिशु नरेन्द्रसागर जी ने गुजराती में प्रकाशित अपनी पुस्तक **दिगम्बर आगेवान चामुण्डराय मन्त्रीनु भयंकर कावतरुं अने गोमटेश्वरनी मूर्तिनो करेल कायापलट** में श्रवणबेलगोल स्थित गोमटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति, जो विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है, को मूलतः श्वेताम्बर मूर्ति बतलाते हुए उसे दिगम्बर बनाने में मन्त्री चामुण्डराय और नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का कपटपूर्ण हाथ रहा होने का आक्षेप लगाकर और ऐतिहासिक तथ्यों का विपर्यय करके जैन समाज के विघटन के लिए एक नया विवाद उपस्थित किया है। साथ ही, उन्होंने अपनी बात प्रस्तुत करने में ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जो मुनियोचित नहीं है। इस पुस्तक की दिगम्बर जैन समाज में तीखी प्रतिक्रिया हुई है। श्री नीरज जैन ने काफी परिश्रम कर विभिन्न इतिहासकारों और विद्वानों के उक्त मूर्ति के निर्माण से सम्बन्धित विवरणों एवं अन्य ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर सूरि-शिशु जी के तर्कों का समुचित उत्तर दिया है जो साप्ताहिक **जैन गजट** में धारा-

वाह्यिक प्रकाशित होने के उपरान्त अब विवेच्य पुस्तक के रूप में वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित हुआ है। पुस्तक सूरि-शिशु जी के आक्षेपों का उत्तर देने और भ्रम के निरसन करने के साथ-साथ ज्ञानवर्द्धक है। आशा है, भविष्य में हमारे श्वेताम्बर भाई समाज में विघटन उत्पन्न करने वाले इस प्रकार के नये विवाद खड़े करने का दुस्साहस नहीं करेंगे।

देहरे वाले बावा—श्री चन्द्रप्रभु जिनेन्द्राय नमः, संकलक एवं प्रकाशक—श्री जितेन्द्र कुमार जैन, कसेरठ बाजार, हापुड़; २४-३-१९९६; पृष्ठ ९४ + ८; मूल्य-शाकाहार के प्रति श्रद्धा एवं मनन

अपने प्रपितामह स्व० ला० रतन लाल जैन कसेरे की १५०वीं जन्म जयन्ती पर उनकी स्मृति में श्री सुमत प्रसाद जैन एवं श्री जितेन्द्र कुमार जी ने यह पूजन पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु, जिन्हें 'देहरे वाले बाबा' अभिहित किया गया है, की पूजा, आरती और चन्द्रप्रभु चालीसा के साथ-साथ श्रावकोपयोगी कई अन्य पूजायें, आरती आदि संकलित की गई हैं। सूक्तियों, यात्रा एवं सफर, तथा प्रभु चिन्तन ने पुस्तक की गरिमा बढ़ाई है। स्व० श्री रतन लाल जी कसेरे का वंश वृक्ष भी दिया गया है। पुस्तक श्रावको के लिए, उपयोगी है।

दूर्वा (संस्कृत त्रैमासिकी), प्रथम वर्ष द्वितीयाङ्क एवं तृतीयाङ्क, सम्पादक श्री राधावल्लभ एवं डा० भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'; प्रकाशक—मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी, संस्कृति भवन, बाणगङ्गा, भोपाल-४६२ ००३; मूल्य १० रुपये प्रति अंक

मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा इस पत्रिका के माध्यम से संस्कृत भाषा एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं में अभिनव वृद्धि की जा रही है। पत्रिका में आधुनिक रचनाकारों द्वारा संस्कृत को सरस और बोधगम्य रूप में पल्लवित किया गया है। द्वितीय अंक में प्ररोचना, समीक्षालोक, परिशिष्ट और दो समारोह समाचारों के अतिरिक्त १३ रचनाएं हैं। तृतीय अंक में प्राग्वाचिकम्, सम्पादकीयम् और सम्पादक द्वारा दिये गये समाचार आदि के अतिरिक्त

सरस्वती के वरद पुत्रों की ३४ रचनाएं हैं। किन्तु यह विस्मय का विषय है कि सम्पादक डा० भागेन्दु को छोड़कर रचनाकारों में कोई जैन रचनाकार नहीं है और ना ही कोई रचना जैन वर्ण्य विषय को लेकर है। जैनों द्वारा पूर्व में संस्कृत में रचित साहित्य अपने आप में उच्च कोटि का रहा है, और आज भी जैन विद्वानों में संस्कृतज्ञों का अभाव, हमारी समझ में, नहीं है, फिर संस्कृत में लेखन के प्रति उदासीनता क्यों? संस्कृत भाषा-साहित्य के प्रेमियों के लिये यह पत्रिका आह्लाददायक है।

तिरुक्कुरल (कुरल काव्य), हिन्दी अनुवादक—स्व० पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री; सम्पादक—डा० सुदीप जैन; प्रकाशक—श्री कुन्दकुन्द भारती, १८-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-११००६७; पंचम संस्करण; पृष्ठ १०९ + २०; मूल्य रु० २०/-

तमिल जन मानस में 'पंचम वेद' या 'तमिल वेद' के रूप में समादृत प्राचीन तमिल नीति ग्रन्थ **तिरुक्कुरल** के रचयिता सामान्यतया **तिरुवल्लुवर** नामक गृहस्थ सन्त माने जाते हैं जो सन्त कबीर की तरह जुलाहे का व्यवसाय करते थे। तमिल भाषा में **वल्लुवर** शब्द का अर्थ 'जुलाहा' और **तिरु** का अर्थ 'श्रीमान' है, अतः यह कहना कठिन है कि यह रचयिता का वास्तविक नाम है अथवा रचयिता के व्यवसाय को ध्यान में रखकर भक्त जनों द्वारा उन्हें इस प्रकार अभिहित किया गया है।

तमिलनाडु के जैन धर्मानुयायी तथा कतिपय जैनेतर विद्वान इसे एक जैन कृति मानते हैं क्योंकि धर्म, अर्थ और काम रूपी पुरुषार्थत्रय का विवेचन करने वाले और **आदि भगवन** का स्मरण कर आरम्भ होने वाले इस ग्रन्थ में धर्म के प्रकरण में तथा अन्यत्र जैन धर्म के सिद्धान्तों और मान्यताओं के अनुरूप काफी नीति वचन कहे गये हैं। वे इसकी रचना का श्रेय प्रथम शती ईस्वी में रहे अनेक धार्मिक ग्रन्थों के प्रणेता जैनाचार्य कुन्दकुन्द, जिनका अपरनाम एलाचार्य भी था, को देते हैं। चौथे पुरुषार्थ मोक्ष का इसमें विवेचन नहीं है जबकि भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य की ज्ञात एवं उपलब्ध कृतियां

इस अन्तिम एवं चौथे पुरुषार्थ से संबंधित अध्यात्म आदि विषयों का निरुपण करने वाली हैं और प्राकृत भाषा में हैं। कहा जाता है कि गृहस्थों के लिए उपयोगी प्रथम तीन पुरुषार्थ का विवेचन करने वाली सदाचारपूरित इस कृति की रचना करके आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे अपने गृहस्थ शिष्य तिरुवल्लुवर को मदुरै में तमिल संगम में प्रस्तुत करने के लिये सौंप दिया था और उनके द्वारा प्रचारित होने के कारण यह उनकी कृति कहलाई।

उलुगम् ओरु कुलम्, अर्थात्, वसुधैव कुटुम्बकम् की उदात्त भावना से अनुप्राणित और मानव मात्र को सदाचारयुक्त व्यवहारिक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करने वाली यह कृति चाहे तिरुवल्लुवर नामक किसी गृहस्थ सन्त द्वारा स्वयं रची गई हो अथवा अपने गुरू से प्राप्त कर उनके द्वारा प्रचारित की गई हो इसमें जैन धर्म के अहिंसा आदि सिद्धान्तों की छाप स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है।

दोहे जैसे दो पंक्तियों वाले तमिल छन्द **कुरल** में निबद्ध इस ग्रन्थ में १०-१० कुरल के १३३ परिच्छेद हैं। इनमें से प्रथम ३८ परिच्छेद 'धर्म' पुरुषार्थ पर, ७० परिच्छेद 'अर्थ' पुरुषार्थ पर और अन्तिम २५ परिच्छेद 'काम' पुरुषार्थ पर हैं। इस ग्रन्थ के भारत की विभिन्न भाषाओं में ही नहीं वरन् विदेशी भाषाओं में भी अनेक अनुवाद हुए हैं। इसका हिन्दी पद्यानुवाद अब से लगभग ५० वर्ष पूर्व स्व० पं० गोविंदराय जैन शास्त्री द्वारा किया गया था और प्रथम बार स्वयं उनके द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसकी लोकप्रियता के कारण उसके तदनन्तर कई संस्करण अनेकों संस्थाओं द्वारा प्रकाशित हुए। स्व० पंडित जी ने **तिरुक्कुरल** का हिंदी गद्यानुवाद भी किया था, जिसका प्रथम संस्करण जनवरी १९८८ में प्रकाशित हुआ था। अब विवेच्य पुस्तक के रूप में उसका पंचम संस्करण प्रस्तुत है जिसमें कुरल के केवल 'धर्म' और 'अर्थ' खण्ड संबंधी १०८ परिच्छेदों का हिंदी गद्यानुवाद दिया गया है। 'काम' खण्ड को छोड़ दिया गया है, किंतु विद्वान सम्पादक द्वारा अपनी प्रस्तावना में

इस संबंध में जो स्पष्टीकरण दिया गया है वह गले नहीं उतरता। 'काम' मात्र सेक्स नहीं है। यह कामनाओं या वासनाओं की पूर्ति से सम्बन्ध रखता है जिसमें यौन संबंध भी समाहित है, जो सामान्य गृहस्थ के जीवन का अभिन्न अंग है। हम नहीं समझते कि गृहस्थ संत तिरुवल्लुवर अथवा मुनिवर्य कुंदकुंद, जो मर्यादित जीवन के समर्थक रहे हों, ने 'काम' खण्ड के अंतर्गत कुछ ऐसा कहा हो जो पढ़ने-सुनने में अश्लील या लज्जास्पद हो।

हिंदी गद्यानुवाद के साथ यदि तिरुक्कुरल का मूल पाठ भी देवनागरी लिपि में दे दिया गया होता तो अच्छा रहता। तदपि हिंदी पाठकों को 'तिरुक्कुरल' से परिचित कराते रहने का यह सुप्रयास है और डा० सुदीप जैन की ज्ञानवर्द्धक प्रस्तावना ने इसकी गरिमा में अभिवृद्धि की है।

—रमा कान्त जैन

CAMDU KOSAM (Prakrit : English Dictionary), by S. Ippagumta ; pub. Parimal Publications, 27/28, Shakti Nagar, Delhi-110007 ; 1992 ; pp. xii + 217 ; price 200/-

The compiler of the dictionary has done maiden work by giving English synonyms of Prakrit words. In the introduction he has dwelt upon the problem of identifying correct word because of variations in different manuscript copies and because of the absence of an authentic Prakrit lexicon of old, except the **Desinamamala** of Hemachandra. Hemachandra defines **desi, desya or desija** words as those which have been in use in standard Prakrit since the remote past. The bibliography lists the works relied upon or used as source by the compiler.

In the lexicon, compiled in the Nagari alphabetic order, grammatical notation of each word is indicated and the source is also often indicated. Variants are also given. It would have been useful if tables of diacritical marks and abbreviations used, were also given.

Mr. Ippagumta deserves all praise for the painstaking job for the furtherance of the Prakrit studies.

HINDUISM The Universal Truth, by Dr. Bhupendra Kumar Modi ; pub. Brijbasi Printers Pt. Ltd , E46/11, Okhla Industrial

Area, Phase II, New Delhi-110020 ; 1993 ; pp. 108 ; price not given

It is a profusely illustrated and nicely brought out monograph. The author is an industrialist by profession and a **Sanatana Dharmi Hindu** by faith. In this monograph he has given his own understanding of the cosmos and life form and ultimate Moksha, as a devout Sanatana Dharmi. He deserves compliments for his erudition and synthesizing some of the traditional imageries with modern scientific data.

I owe it to Mr. Rajendra Kumar Jain for giving me the opportunity to go through this illuminating book.

THE LABDHISARA of Nemichandra Siddhanta Cakravarti (The Essence of Attainment), Vol. 1, by Prof. L. C. Jain ; pub. The S. S Murlidhar Kanhaiyalal Jain Trust, Kirti Stambha, Nehru Park, Katni-483501 ; 1994 ; pp. viii + 107 ; price 600/-

Prof. Jain had taken up this study as a Research Project of the Indian National Science Academy. According to him, the **Labdhisara** is a text on the advanced theory of Karma system, containing scientific terminology and symbols, similar to the modern set up of systems theory and cybernetics. It is a highly technical presentation which would be useful for those interested in higher mathematics. For the general reader, the glossary is useful. It bears testimony to the author's deep study of the Karma philosophy and its co-relation to mathematics.

THE TAO OF JAIN SCIENCES, by Prof. L. C. Jain ; pub. Arihant International, 239, Gali Kunjas, Dariba, Delhi-110006; 1992; pp. xxix plus 46 plus 81 plus 75 plus 72 plus 67 plus 52 plus 12; price 500/-

It is a collection of 5 monographs respectively dealing with—I. the number system and measure theory, II. the Macrocosmic system and the Microscopic perspective, III. Set theoretic approach in biological system, IV. Foundations of mathematico-philosophic system, and V. System theory and cybernetics. 16 Appendices give tables for measures, technical terminology and exhaustive bibliography of source material and modern research. Index, errata and biodata, with publications,

of the author, are useful additions. In his learned Introduction Dr. R. C. Gupta has struck a right note that by presenting thought provoking material for history as well as philosophy of science, this work will lead to more academic discussions, deeper probes, serious investigations and better expositions about Jainology, and it will be quite useful for the historians of mathematical sciences.

Tao is a Chinese word, meaning 'the way'. The title of the work is thus illustrative to show that it is an introduction to the mass of scientific, more particularly mathematical and astronomical, material scattered through the Jain philosophical literature, especially concerning cosmos and the doctrines of Karma and of poly-endism (Anekanta-vada). Prof. L. C. Jain has been able to do full justice to the subject because of his thorough understanding of the Jain Siddhanta texts and his grounding in the modern concepts of mathematics. Prof Jain, his collaborator Prabha and the publisher deserve congratulations for bringing out this book.

जैन धर्म : संक्षेप में, मूल लेखक–प्रो० ए० चक्रवर्ती, अनुवादक–प्रो० एल० सी० जैन (जबलपुर) और श्री नरेश जैन (गोरेगांव) ; प्रकाशक–श्री दिगम्बर जैन साहित्य-संस्कृति संरक्षण समिति, डी-३०२, विवेक विहार, दिल्ली-११००९५ ; १९९५ ; पृ० १०२+८; मूल्य रु० २५

प्रो० ए० चक्रवर्ती इस शती के प्रथम ६ दशकों के एक ख्याति लब्ध विद्वान थे जिन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन की अवधारणाओं और आधुनिक भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तों के सापेक्ष जैन चिन्तनधारा का प्रामाणिक विवेचन किया। कुन्दकुन्दाचार्य के **पंचास्तिकायसार** की भूमिका के रूप में लिखित अपने मूल अंग्रेजी निबंध में उन्होंने कुन्दकुन्द के जीवन और युग का गवेषणात्मक चित्रण करने के साथ **पंचास्तिकायसार** के दार्शनिक पक्ष की आधुनिक दृष्टि से विवेचना की है। अनुवादकर्ताओं ने उनके उक्त निबन्ध का हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है जिसमें सरल सुबोध शब्दावली का प्रयोग किया गया है और इस बात का ध्यान रखा

गया है कि idiom भेद के कारण अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करते समय लेखक का मूल आशय विलुप्त न हो जाय। उसके लिए अनुवादकर्ता साधुवाद के पात्र हैं। अन्त में शब्द सूची (index) दे दिये जाने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ी है।

प्रो० चक्रवर्ती की मूल पुस्तक १९२० में प्रकाशित हुई थी। भूमिका में ऐतिहासिक परिचय, दार्शनिक परिचय, जैन मनोविज्ञान और जैन न्याय के अन्तर्गत विषय का विवेचन किया गया है। प्रो० चक्रवर्ती भारतीय शिक्षा सेवा के सदस्य थे और डिग्री कालेजों में दर्शन शास्त्र के प्राचार्य के पद पर नियुक्त थे। दर्शनशास्त्र के आचार्य के रूप में उन्होंने इस भूमिका में जैन दर्शन के मूलभूत तत्त्वों का आधुनिक तुलनात्मक विधा में विवेचन किया जो भारतीय दर्शन शास्त्र के भारतीय और पाश्चात्य अध्येताओं के लिए बोधगम्य था। अनुवाद में उसका शीर्षक **जैन धर्म : संक्षेप में** ठीक ही दिया गया है।

समयसार का दार्शनिक चिन्तन, मूल लेखक-प्रो० ए० चक्रवर्ती, अनुवादक–डा० भाग चन्द्र जैन 'भास्कर' (नागपुर) ; प्रकाशक–उपरोक्त ; १९९५ ; पृ० ६ + १४१ + १४१ ; मूल्य रु० ३५

प्रो० ए० चक्रवर्ती द्वारा Introduction to the Samayasara १९४० में प्रकाशित किया गया था। **समयसार** आत्मतत्त्व से संबंधित आचार्य कुन्दकुन्द का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो जैन अध्यात्म की आधार शिला के रूप में मान्यता प्राप्त है। प्रो० चक्रवर्ती ने अपनी आधुनिक तुलनात्मक शैली में इसकी भूमिका चार शीर्षकों के अन्तर्गत लिखी–पाश्चात्य विचारधारा में आत्मा की कल्पना, भारतीय विचारों में आत्मा, संहिता-ब्राह्मणों में उपनिषदिक विचारों के मूल तत्त्व, तथा जैन धर्म, उसका समय और सिद्धान्त। जैन अध्यात्म को समझने में प्रो० चक्रवर्ती की यह भूमिका सहायक है।

अनुवाद शाब्दिक न होकर अर्थजनित हैं। मूल अंग्रेजी पाठ भी आमने-सामने होने से विषय को समझने में सुविधा होती है। शब्द सूची (Index) भी यदि दे दी जाती तो उपयोगी होती। इस

महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन को हिंदी में सुलभ करने के लिए अनुवादक और प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं।

धवल-जय धवल सार, ले० पं० जवाहर लाल शास्त्री ; प्र० श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी-२२१००५; सित० १९९६; पृ० ८९; मूल्य रु० २५

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान में दिनांक २९ से ३१ अगस्त, १९९३, को सिद्धांताचार्य पं० फूल चंद्र शास्त्री स्मृति व्याख्यानमाला के अंतर्गत जैन धर्म और सिद्धांत तथा कारणानुयोग के विशिष्ट विद्वान, भीण्डर निवासी, पं० जवाहर लाल शास्त्री द्वारा दिये गये ४ व्याख्यानों को **धवल-जय धवल सार** के रूप में पुस्तकाकार प्रस्तुत किया गया है। प्रकाशन पं० फूलचंद्र शास्त्री फाउंडेशन, रुड़की, के आर्थिक सहयोग से हुआ।

प्रथमतः ६ पृष्ठों में स्व० पं० फूलचन्द्र शास्त्री के व्यक्तित्व और कृतित्व पर व्याख्यानकर्ता द्वारा प्रकाश डाला गया है जिससे ३१-८-१९९१ को समाप्त उनके सुदीर्घ ९० वर्ष के संघर्षमय एवं तपःपूत जीवन का परिचय मिलता है। **धवल, महाधवल** और **जय-धवल** पर फूलचन्द्र जी का विशद कार्य है। जवाहर लाल जी उनके सुयोग्य शिष्य हैं।

चार व्याख्यान क्रमशः (१) पण्डित जी के धवल, जयधवल तथा महाधवल का वर्ण्य विषय, (२) आयुकर्म : एक अनुशीलन, (३) क्षायिक समकित, और (४) शंकाएं तथा पं० फूलचन्द्र जी के समाधान, हैं।

जैन तत्व मीमांसा, ले० पं० फूलचन्द्र शास्त्री ; प्र० डा० अशोक कुमार जैन, अध्यक्ष, सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री फाउन्डेशन, २०५/६, सरस्वती कुन्ज, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की-२४७६६७; तृतीय संस्करण, १९९६; पृ० ३५ + ४०२ ; मूल्य रु० १००

६० वर्ष की परिपक्व अवस्था में पं० फूलचन्द्र शास्त्री ने १९६० में इस ग्रन्थ का प्रथमतः प्रणयन किया था और आर्थिक विषमताओं के बावजूद अपने सीमित साधनों के बल पर ही उसका

प्रकाशन किया था। १९५७ में अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद के जबलपुर अधिवेशन में यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि निश्चय व्यवहार निमित्त-उपादान आदि विषयों के सांगोपांग बिशद विवेचन की आवश्यकता है। वही इस ग्रन्थ का प्रेरणा स्रोत था। पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री प्रभृति विद्वानों की सम्मति से इसका नाम **जैन तत्त्व मीमांसा** रखा गया। पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री ने पं० फूलचन्द्र जी को मूल सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्येता मननशील विद्वान होने के कारण इस कार्य के लिए सर्वथा योग्य समझा था।

१८ वर्ष बाद १९७८ में पण्डित जी ने ग्रन्थ का परिवर्धन और पुनर्लेखन कर इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया। उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि कुछ विद्वानों द्वारा **जैन तत्त्व मीमांसा** का विरोध किया जा रहा है क्योंकि चरणानुयोग के विपरीत वर्तमान में प्रचलित बाह्य क्रियाकाण्ड को इससे समर्थन नहीं मिल रहा है। उन्होंने विद्वानों को उद्बोधित भी किया कि वे जिनागम के मुख हैं, अतः उन्हें लोक रीति को गौणकर ही आगम के अनुसार समाज का मार्ग दर्शन करना चाहिए।

प्रस्तुत तृतीय संस्करण, द्वितीय संस्करण का पुनर्मुद्रण है और उसको प्रकाश में लाने का श्रेय पण्डित जी के सुयोग्य पुत्र डा० अशोक कुमार जैन को है जिन्होंने पण्डित जी के कार्य को आगे बढ़ाये रखने के उद्देश्य से 'सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूल चन्द्र शास्त्री फाउन्डेशन' की स्थापना की है।

ग्रन्थ में १२ अध्याय हैं और 'उपादान निमित्त संवाद' पर परिशिष्ट है। अध्याय क्रमशः निम्नवत हैं—

१. विषय प्रवेश, २. वस्तु स्वभाव मीमांसा, ३. बाह्य कारण मीमांसा, ४. निश्चय-उपादान मीमांसा, ५. उभय निमित्त मीमांसा, ६. कर्ताकर्म मीमांसा, ७. षट्कारक मीमांसा, ८. क्रम नियमित पर्याय मीमांसा, ९. सम्यक् नियति स्वरूप मीमांसा, १०. निश्चय व्यवहार मीमांसा, ११. अनेकान्त-स्याद्वाद मीमासा, और १२. केवलज्ञान स्वभाव मीमांसा।

गूढ़ विषय के लिए शंका-समाधान की शैली का यथोचित उपयोग कर उसे सुबोध बनाया गया है। अपनी शास्त्रीय संयमित भाषा में उन्होंने वर्तमान के अभव्य मुनि समुदाय को भी इंगित किया है, यह कहते हुए कि 'नियम यह है कि जहाँ राग की ओर अणु मात्र भी झुकाव है वहाँ आत्मा की प्राप्ति नहीं और जहां आत्मा की प्राप्ति है वहां रागानुभूति नहीं।'

कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व और कषाय की भूमिका, ले०-डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ; प्र०–ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, २४३, शिक्षक कालोनी, नीमच-४५८४४१; १९९५ ; पृ० XXV + १९८; मूल्य रु० १२

कर्मबन्ध की प्रक्रिया में मिथ्यात्व अकिंचित्कर है, इसका प्रतिपादन आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपनी पुस्तक **अकिंचित्कर** में किया। इससे सिद्धान्त शास्त्रियों में एक विवाद खड़ा हो गया। पं० फूल चन्द्र सिद्धांतशास्त्री ने **अकिंचित्कर : एक अनुशीलन** में आ० विद्यासागर जी की प्रतिपत्ति की समीक्षा कर सिद्धांत ग्रंथों के आधार से उसे शास्त्रसम्मत नहीं बताया। पं० शील चन्द (मवाना) ने पं० फूलचन्द्र जी का समर्थन किया। उपाध्याय कनकनंदि जी और बाबू लाल जी इंजीनियर ने भी इसी मान्यता की समीक्षायें लिखी। आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने भी अपना मत दिया कि "यह भी विचारणीय है कि मिथ्यात्व को बन्ध में अकिंचित्कर कहकर उसे कर्मबन्ध का कारण न माना जाए तो प्रथम गुणस्थान की सिद्धि कैसे होगी?" पं० जगन्मोहन लाल जी शास्त्री ने **कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया** में आ० विद्यासागर जी का एक प्रकार से मंडन किया है। डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने प्रस्तुत पुस्तक में पं० फूलचन्द्र जी के मत का समर्थन किया है।

शास्त्री जी ने इस पुस्तक में अपने प्राक्कथन से सुबोध शैली में विवेच्य विषय का परिचय दिया है और अन्त में १८० प्रश्नों के माध्यम से विषय को सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार से स्पष्ट किया है। सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में सिद्धान्त सम्बन्धी प्रायः समस्त मुख्य साहित्य

का उल्लेख किया गया है। विषय का विवेचन ४८ अनुच्छेदों के अन्तर्गत किया गया है। उपसंहार और निष्कर्ष के अन्तर्गत अपनी प्रतिपत्ति का सारांश भी दिया है। दिगम्बर जैन सिद्धांत के अनुसार कर्मबन्ध की प्रक्रिया को समझने में यह पुस्तक सहायक है। डा० देवेन्द्र कुमार जी इसके लिए साधुवाद के पात्र हैं।

पं० आशाधर व्यक्तित्व और कर्तृत्व, ले० पं० नेमचन्द डोंणगाँवकर न्यायतीर्थ, देउलगाँव राजा ; प्र०—अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ, रामपुरा, आर्य समाज रोड, कोटा-३२४००६ ; १९९५ ; पृ० २२ + २८० ; मूल्य रु० ५०

१३वीं शती ईस्वी के एक सद्गृहस्थ श्रावक का जीवन वृत्त और उनके कृतित्व का सुगम परिचय पं० नेमचन्द जी द्वारा इस पुस्तक में दिया गया है। आशाधर (११७३–१२४३ ई०) ने ११९८ ई० तक अपना अध्ययन पूरा कर लिया और १२०२ ई० से उन्होंने स्वतन्त्र लेखन प्रारम्भ किया। दस वर्ष से ही वह 'पंडित' आशाधर के नाम से विख्यात हो गये। उनकी २७ प्रकाशित, ९५ अप्रकाशित तथा ४ अप्राप्य रचनाओं की सूची दी गई है। उनकी रचनाओं में ११४ दिगम्बर ग्रन्थों, ११ श्वेताम्बर ग्रन्थों और २१ जैनेतर ग्रन्थों के सन्दर्भ विशेष रूप से सूचित किये गये हैं जो उनके प्रकाण्ड पांडित्य को उद्घाटित करते हैं। **अनगार धर्मामृत** और **सागार धर्मामृत** उनकी विशिष्ट कृतियां हैं जिनमें उन्होंने गृह-त्यागी मुनि और गृहस्थ श्रावक की धार्मिक चर्या की विवेचना की है।

उस समय की मूल समस्या भी यही थी कि मान्यताओं में विकृति आ रही थी तथा प्रवृति में शिथिलाचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। साधना के स्थान आराधना के नाम पर आडम्बर और बाहरी क्रियाकाण्ड के स्थल मात्र बन रहे थे, और वहां एक प्रकार से धार्मिक दुकानदारी चालू हो गयी थी। उसके पुरोधा थे भट्टारक और तत्कालीन गृहस्थ पंडित प्राय: उनके आश्रय में थे तथा उनके अहं और आडम्बर का पोषण करते थे। आशाधर जी को अपनी

स्पष्टवादिता के लिए समाज से बहिष्कृत किये जाने तक का मूल्य चुकाना पड़ा था।

पं० आशाधर के कृतित्व से और उनका अपने गुरू के रूप में कुछ पंडितों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त का अध्ययन-स्वाध्याय-निरुपण त्यागीमुनि-भट्टारकों का एकाधिकार नहीं था वरन् आज से ७००–८०० वर्ष पहले भी गृहस्थ-श्रावकों में अधिकारी विद्वान थे और त्यागी लोग भी उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। विशद जानकारी से परिपूर्ण इस पुस्तक के प्रणयन के लिए पं० नेमचन्द जी साधुवाद के पात्र हैं।

वत्थु-विज्जा (जैन वास्तु-विद्या)–लेखक-डा० गोपीलाल 'अमर'; प्रकाशक-श्री कुन्दकुन्द भारती, १८-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-११००६७; अगस्त १९९६; पृष्ठ xvi + १०४; मूल्य २५/-

डा० गोपी लाल 'अमर' ने इस ग्रंथ में आधार रूप में पं० आशाधर के **प्रतिष्ठा-सारोद्धार** तथा ठक्कर फेरु के **वत्थु-सार-पयरण** को ग्रहण किया है। वास्तु-विद्या का संबंध घर में बसने वाले से है, घर छोड़कर जाने वाले से नहीं है, और सुविज्ञ लेखक ने इसीलिए गृहस्थ आशाधर व ठक्कर फेरु को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। डा० अमर ने आधुनिक शैली के निर्माण का उल्लेख भी किया है जो उनके लेखकीय दायित्व के प्रति सजगता का सूचक है। पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या और सहायक ग्रंथ-सूची ने पुस्तक की सदर्भ ग्रंथ के रूप में उपयोगिता सूचित की है। पुस्तक के नाम में 'जैन' विशेषण अटपटा लगा। वास्तु-विद्या कोई धर्म या दर्शन का सिद्धांत नहीं है जिसमें 'जैन' विशिष्ट हो। एक जैन धर्मावलम्बी का घर भी वास्तु-विद्या के आधुनिक मानकों के अनुसार ही निर्मित होगा। डा० सुदीप जैन ने अपनी प्रस्तावना में प्राचीन संदर्भों को संकलित कर उपयोगी जानकारी दी है।

–डा० शशि कान्त

समाचार विमर्श

—श्री अजित प्रसाद जैन

आचार्य श्री का निर्वाण महोत्सव

पू० आचार्य श्री विमलसागर म० के द्वितीय पुण्य तिथि दिवस के समारोह पूर्वक मनाए जाने के निम्नलिखित दो समाचार द्रष्टव्य हैं—

(१) **फिरोजाबाद**—परम तपस्वी, सन्मार्ग दिवाकर श्री १०८ विमल सागर म० का **द्वितीय निर्वाण महोत्सव** आ० विमलसागर दि० जैन विद्यालय, नई बस्ती, फिरोजाबाद, में प्रो० प्रेम कुमार की अध्यक्षता में मनाया गया। सराक उत्थान समिति के राष्ट्रीय संयोजक श्री अनूप चन्द जैन मुख्य अतिथि थे। कार्यक्रम का प्रारम्भ अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद के अध्यक्ष प्राचार्य श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन के द्वारा मंगलाचरण के साथ हुआ तथा आचार्य श्री का गुणानुवाद करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। (**करुणा दीप,** दि० १५-१-९७)।

(२) **मधुबन शिखर जी**—दुखमा पूर्ण ऐसे पंचम काल की तीसरी सहस्राब्दि की छठी शताब्दि में करुणा पूर्ण वात्सल्य युक्त दुख हारक **विमल युग रूपी काल खण्ड की स्थापना करने वाले परम वन्दनीय** गुरुवर आ० विमल सागर म० का **द्वितीय स्मृति दिवस** २१ दिसम्बर १९९६ को तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर जी पर उनकी समाधिस्थली पर पूरे दिन भव्यता के साथ सम्पन्न हुआ। प्रातः प्रभात फेरी निकाली गई जो बीस पंथी कोठी से प्रारम्भ होकर आचार्य श्री की समाधि स्थली एवं तीन-चौबीसी मन्दिर स्थली पर समाप्त हुई। झण्डारोहण के उपरान्त पंचामृताभिषेक आदि की बोलियां होकर आचार्य श्री की प्रतिमा का पंचामृता-भिषेक पूर्वक पूजन, आरती, कुसुमांजलि एवं श्रीफल अर्पण के कार्य-क्रम हुए तथा **जिस प्रकार स्वयं आचार्य श्री जिनेन्द्र भगवान का पंचामृताभिषेक घड़ों-घड़ों भर करवाते थे ठीक उसी प्रकार उनके**

भक्त गण अपने गुरुवर की प्रतिमा पर घड़ों-घड़ों से अभिषेक कर नहीं अघाते थे।......समस्त कार्यक्रम आर्यिका नन्दामती जी के निर्देशन में तथा आचार्य श्री आर्यनन्दी म०, श्री वासुपूज्य म०, श्री सन्मति सागर म० तथा श्री भरतसागर म० एवं मुनि संघों के पावन सानिध्य में सम्पन्न हुए। (**जैन गजट**, दि० ३०-१-९७)।

पू० आचार्य श्री विमलसागर म० की इस द्वितीय पुण्य तिथि पर हम भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। हमें आचार्य श्री के दर्शनों का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कोई भी उनके सौम्य वात्सल्यपूर्ण मोहक व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने पर प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था।

करुणादीप में प्रकाशित समाचार में आचार्य श्री के पुण्य तिथि समारोह को 'निर्वाण महोत्सव' की संज्ञा दी गई है। मधुबन-शिखर जी में आचार्य श्री के समाधि स्थल पर स्थापित उनकी प्रतिमा की ठीक उसी प्रकार पंचामृताभिषेक पूर्वक पूजन, आरती, आदि के कार्यक्रम एक आर्यिका जी के निदेशन में किए गये जिस प्रकार २० पंथी आम्नाय में तीर्थंकर प्रतिमा के किए जाते हैं। समस्त जैन वाङ्‌मय एवं संस्कृति में निर्वाण शब्द का प्रयोग केवल मोक्षगमन के पर्यायवाची अर्थों में ही हुआ है। इस कार्यक्रम में आचार्य श्री के पट्ट शिष्य **ज्ञान दिवाकर** आ० श्री भरत सागर सहित अन्य तीन आचार्यों, एवं मुनि संघों की उपस्थिति यह दर्शाती है कि इसमें उनका पूर्ण अनुमोदन था। इसमें ऐसा लगता है कि कुछ वर्ष पूर्व आचार्य श्री विमलसागर म० को **कलिकाल सर्वज्ञ** की उपाधि से अलंकृत करने वाले उनके शिष्य एवं भक्त गण अपनी भक्ति एवं श्रद्धा के अतिरेक में यह विश्वास करते हैं कि आचार्य श्री ने इस नश्वर देह को त्याग कर सचमुच ही मोक्षगमन किया है। यदि ऐसा है तो यह भी उनकी दृष्टि में वर्तमान हुंडावसर्पिणी काल का एक ऐसा अछेरा (अपवाद स्वरूप घटना) होगा जिसकी कल्पना भी प्राचीन दिगम्बर जैन आचार्य गण नहीं कर पाये थे। (सुनने में तो यह भी आया था कि अकस्मात निधन हो जाने के कारण उनका विधिवत् सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण भी नहीं हुआ)।

आचार्यों, मुनियों की प्रतिमाओं का निर्माण इस शती के उत्तरार्द्ध की ही देन है। प्राचीन काल के किसी आचार्य या मुनिराज की कोई प्रतिमा कभी निर्मित की गई हो, इसका भी कोई उल्लेख प्राचीन कथा—पुराण साहित्य में नहीं मिलता। तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य मुक्त जीवों के भी केवल चरण-चिन्ह स्थापित किये जाने की ही दिगम्बर आम्नाय में प्रथा रही है। अपवाद स्वरूप केवल बाहुबली स्वामी की प्रतिमाएं हैं जिनका इतिहास भी एक सहस्र वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। दिवंगत आचार्यों मुनियों की मूर्तियों के बनाए जाने पर तो किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि आजकल तो दिवंगत राजनेताओं व समाज नेताओं की भी मूर्तियां स्थापित करने का रिवाज चल पड़ा है। किन्तु किसी आचार्य मुनि की प्रतिमा को वेदी में विराजमान कर उसका जिनेन्द्र प्रतिमा के समान अभिषेक-पूजा, आरती करना तो धर्म या लोक मूढ़ता ही कहलाएगी।

प्रातः स्मरणीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर म० को इस शताब्दि के पूर्वाद्ध में उत्तर भारत में सदियों से जैन मुनि-धर्म को पुनः प्रतिस्थापित करने का श्रेय प्राप्त है तथा आज के अधिकांश आचार्य, मुनि एवं आर्यिकाएं इन्हीं के शिष्यों, प्रशिष्यों से दीक्षित हुएवे हैं। उन युग प्रवर्तक आचार्य के नाम से यदि इस शती को दिगम्बर जैन समाज के 'आ० शान्ति सागर युग' की संज्ञा दी जाये तो अनुचित न होगा। मधुबन-शिखर जी के उपर्युल्लिखित समाचार में आ० विमलसागर म० को 'विमल युग रूपी कालखण्ड की स्थापना करने वाले परम वन्दनीय गुरुवर' कहा गया है। यद्यपि आचार्य विमलसागर म० का दि० जैन समाज में बहुमान था पर हमें उनके किसी ऐसे महान् उपकार की जानकारी नहीं है जिसकी कृतज्ञता प्रकाश के लिए इस काल खण्ड को 'विमल युग' कहा जाए। भक्तों एवं शिष्यों को गुरु भक्ति के अतिरेक प्रदर्शन से वचना चाहिए। यदि अन्य आचार्यों के शिष्य-प्रशिष्य भी अपने गुरु महाराज को 'युग प्रवर्तक' के नाम से सम्बोधित करने लगेंगे तो यह शब्द ही अर्थ हीन हो जायेगा।

अनशन तप का नया कीर्तिमान

मात्र गर्म जल के आधार पर २५१ दिन का अनशन तप करके बाल ब्रह्मचारिणी साध्वी (स्था०) श्री हेम कुंवर जी ने तपस्या के इस क्षेत्र में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। साध्वी जी के इस उग्र तप का समापन दि० १५ दिसम्बर ९६ को आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी के सानिध्य में तथा दिल्ली राज्य के मुख्य मंत्री श्री साहिब सिंह वर्मा, कांग्रेस नेता श्री अर्जुन सिंह व बूटा सिंह तथा देश-विदेश से आए सहस्रों श्रावक-श्राविकाओं के समक्ष हुआ। इसके पूर्व श्री सहज मुनि की २०१ दिन की अनशन तपस्या इस क्षेत्र का सर्वोच्च कीर्तिमान थी।

जैन संस्कृति एवं साहित्य में भगवान ऋषभदेव का एक वर्ष का तथा भगवान महावीर स्वामी का छह मास का **निर्जल** उपवास लोक प्रसिद्ध है। अनशन तपस्या के आधुनिक कीर्तिमान को देख कर आदि एवं अन्तिम तीर्थंकर के उन दीर्घ उपवासों के प्रति सहज ही आस्था जाग्रत होती है।

मुस्लिम बालिका द्वारा अठाई तप

साध्वी (तेरापंथी स्था०) श्री मधुस्मिता जी की प्रेरणा से विनाशकिया डाक्टर दम्पति के यहां २ वर्षीय बालक की देखभाल करने वाली तेरह वर्षीय बालिका नजीदा ने आठ दिवस तक पूर्णतः निराहार रहकर तप की विशिष्ट आराधना की। बालिका ने जैन तपस्या की विधि को भली भांति समझ कर तप आरम्भ किया। डाक्टर दम्पति की व्यस्त दिन चर्या के कारण तप को पांच दिन तक गोपनीय रखा। पांचवे दिन तप डा० अजुला तथा डा० वीगण के सामने प्रकट हुआ। उसकी अल्पवय को देखते हुए उसे तप वहीं समाप्त करने की बात समझाई गई किन्तु बालिका ने दृढ़ मनोबल का परिचय देते हुए अठाई पूर्ण की। विभिन्न संस्थाओं व व्यक्तियों ने बालिका का तहे दिल से स्वागत कर सम्मानित एवं पुरस्कृत किया।

इस्लाम में रमजान के पाक महिने में रोजा रखने का विधान किया गया है तथा उसे दीन परस्तों के लिये लाजमी फर्ज घोषित किया गया है। पर रोजे में केवल दिन के १२, १२ १/२ घण्टे का ही निर्जल उपवास रखा जाता है। रोजा रखा जाना कितना मुश्किल है इसके सम्बन्ध में एक कथा आती है कि एक अल्प वयस्क बालक ने दृढ़ धार्मिक आस्था के वशीभूत होकर रोजा कबूल कर लिया लेकिन शाम होने से पहले ही भूख और प्यास की असहनीय वेदना से उसका प्राणान्त हो गया पर उसने रोजा नहीं तोड़ा। ऐसे परिवेश में पली इस मुस्लिम बालिका का अठाई का उग्र तप करना सचमुच ही स्तुत्य एवं अभिनन्दनीय है। हम आशा करते है कि इस उग्र तप की प्रेरणा देने के पूर्व इस बालिका से मांसाहार तथा रात्रि भोजन का त्याग भी करा दिया गया होगा। किन्तु यदि ऐसा नहीं कराया गया है तो इस तप का कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता।

गोशाला शिलान्यास

राजधानी दिल्ली में ३० एकड़ के एक विशाल भूखण्ड पर आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी के पावन सानिध्य में दि० २९ दिसम्बर १९९६ को एक अभिनव गोशाला का शिलान्यास किया गया। इस गोशाला में गायों से प्राप्त प्रत्येक पदार्थ (गो मूत्र, गोबर तथा मरणोपरान्त अवयव व चर्म) का समुचित उपयोग कर उसे स्वावलम्बी बनाया जायेगा। दिल्ली राज्य के मुख्य मन्त्री जी ने इस योजना के लिए नि:शुल्क भू खण्ड उपलब्ध कराकर जीवदया के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है।

स्वावलम्बी गोशाला की योजना गोवंश की रक्षार्थ जीवदया के क्षेत्र में एक अभिनव एवं स्तुत्य कदम हैं।

वीर सेना का गठन

स्याद्वाद विद्याभूषण आ० सन्मतिसागर म० की प्रेरणा से अवागढ़, एटा, कासगंज, रामपुर आदि लगभग ५० स्थानों में वीर सेना का गठन हो चुका है। वीरसेना का उद्देश्य है—"देव शास्त्र गुरु

(शेष पृष्ठ ७७ पर)

अभिनन्दन

सौ० हेमलता अ० जोहरापुरकर, को शोध प्रबन्ध 'प्राचीन मराठी जैन आख्यान काव्यांचा अभ्यास' पर नागपुर विद्यापीठ द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई। श्रीमती जोहरापुरकर आ०दे० कालेज, भारसिंगी (जि० नागपुर) में मराठी विभाग की अध्यक्ष हैं। शोध निर्देशक डा० वि० बा० प्रभुदेसाई थे।

इन्दौर में सशस्त्र पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय में पदस्थ मध्य प्रदेश कैडर के भारतीय पुलिस सेवा के युवा अधिकारी श्री पवन जैन को समाज सेवा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करने के लिये गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर २५ जनवरी, १९९७, को नई दिल्ली में वर्ष १९९६ का 'टी० वी० झुनझुनवाला पुरस्कार' प्रदान किया गया।

५ फरवरी को इन्दौर में सुप्रसिद्ध संगीतकार श्री कल्याणजी आनन्दजी को मध्य प्रदेश शासन का प्रतिष्ठित 'लता मंगेशकर पुरस्कार' प्रदान किया गया।

४ फरवरी को नई दिल्ली में सिंथेटिक और कैमिकल्स लिमिटेड की ओर से देश में रबर उद्योग में उल्लेखनीय योगदान के लिए वर्ष १९९६ का 'तुलसीदास किलाचन्द राष्ट्रीय पुरस्कार' एन० के०

(पृष्ठ ७६ का शेष)

के प्रति श्रद्धावनत् होते हुए सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार के साथ शाकाहार पर विशेष बल देना जिससे एक स्वस्थ एवं प्रबुद्ध समाज का निर्माण हो सके"। आचार्य श्री अपने विहार में स्थान-स्थान पर स्याद्वादी धर्म रक्षक वीर सेना और स्याद्वादी जैन क्लब की स्थापना की प्रेरणा देते हैं।

कुछ समय पूर्व बहुचर्चित आचार्य सन्मतिसागर-संयमभूषण-मती प्रकरण में जांच कर रहे जे० डी० जैन आयोग को आचार्य श्री के समर्थकों की उग्र भीड़ से आतंकित होकर भिण्ड नगर से शीघ्रता में पलायन करना पड़ा था। यह उग्र भीड़ कहीं आचार्य श्री के "धर्मरक्षक वीर सैनिकों" की तो नहीं थी? ★

इण्डिया रबर कम्पनी लिमिटेड के श्री राजकुमार जैन को दिया गया।

डा० (श्रीमती) मुन्नी जैन, पुस्तकालयाधिकारी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी को वर्ष १९९६ में उनके शोध-प्रबन्ध "हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं० सदासुखदास जी का योगदान" पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि प्रदान की गई थी। उक्त शोधकार्य के सम्बन्ध में उन्हें जयपुर में आचार्य कुन्दकुन्द शिक्षण संस्थान ट्रस्ट, बम्बई की ओर से रजत शील्ड एवं वीतराग-विज्ञान, अजमेर की ओर से २१ हजार रुपये की राशि प्रदान कर सम्मानित किया गया।

डा० विजय छजलानी, महिदपुर (जिला उज्जैन) को भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री संघ, नई दिल्ली, द्वारा 'भारत गौरव' पुरस्कार के लिये चयनित किया गया।

नगर निगम, आगरा, में उप नगर प्रमुख (डिप्टी मेयर) पद पर श्री नवीन जैन (भाजपा) निर्वाचित हुए।

हाल ही में सम्पन्न उप चुनाव में श्री सुन्दर लाल पटवा, भाजपा, छिन्दवाड़ा (म०प्र०) से लोक सभा सदस्य निर्वाचित हुए।

श्री जगवीर किशोर जैन, प्रवक्ता, बी. एल. जैन इण्टर कालेज, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश विधान परिषद के सदस्य निर्वाचित हुए।

डा० प्रेम सुमन जैन, विभागाध्यक्ष, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, को प्रोफेसर के पद पर पदोन्नति के साथ-साथ उक्त विद्यालय के कला संकाय का अध्यक्ष (डीन) पद भी प्रदान किया गया।

आचार्य श्री नगराज जी को उनके ग्रन्थ **आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन** पर भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आठवें मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

कर्णाटक के श्री के० नेमीनाथ को जैन समाज के प्रतिनिधि के रूप में राष्ट्रीय अल्प संख्यक आयोग में मनोनीत किया गया।

उपरोक्त सभी महानुभावों को शोधादर्श परिवार उनकी उपलब्धि, उत्कर्ष और सफलता पर बधाई देता है और शुभकामना प्रेषित करता है।

समाचार विविधा

राजकीय संग्रहालय, मथुरा, में जैन कला पर संगोष्ठी

३–४ जनवरी, १९९७, को मथुरा के राजकीय संग्रहालय में जैन कला पर संगोष्ठी का संयोजन संग्रहालय के प्रभारी श्री जितेन्द्र कुमार द्वारा किया गया। उद्घाटन डा० अंगने लाल, कुलपति, श्री राम मनोहर लोहिया विश्वविद्यालय, फैजाबाद, ने किया। श्री हजारीमल बांठिया (कानपुर), डा० अमर सिंह (लखनऊ), डा० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी (वाराणसी), श्री आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव (वाराणसी), डा० शैलेन्द्र नाथ कपूर (लखनऊ), पं० सुभाष चन्द्र जैन 'पंकज' (मथुरा), श्री देव प्रकाश (नई दिल्ली), डा० रतन चन्द्र अग्रवाल (जयपुर), श्री अम्बिका प्रसाद सिंह (देवगढ़), डा० शैलेन्द्र रस्तोगी (अयोध्या), डा० मनीष जोशी (दिल्ली), सुश्री माधुरी शर्मा (इलाहाबाद), डा० शशी (ओसिया), और डा० सरोजनी कुलश्रेष्ठ, डा० देव नारायन व श्री महेन्द्र कुमार जैन (मथुरा) ने विविध विषयों पर शोध पत्र पढ़े और चर्चा में भाग लिया।

स्व० श्री श्यामलाल पाण्डवीय की जन्म शताब्दि

श्री श्याम लाल पाण्डवीय (१४-१२-१८९६—११-२-१९८०) अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद के संस्थापक सदस्य और एक-समय अध्यक्ष थे, स्वतन्त्रता सेनानी और मध्य भारत सरकार में मन्त्री रहे थे, और कर्मठ समाज सेवी व विचारक थे। परिषद द्वारा उनका जन्म शताब्दि समारोह आयोजित किया जा रहा है। समारोह का प्रारम्भ १४-१२-१९९६ को किया गया। वर्ष भर के कार्यक्रम का संयोजन श्री रवीन्द्र मालव कर रहे हैं।

पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम

१९९६ की परीक्षा में १३ परीक्षार्थी उत्तीर्ण हुए जिनमें ५ ने विशिष्ट श्रेणी, ५ ने प्रथम श्रेणी और १ ने द्वितीय श्रेणी अर्जित की।

अनेकान्त ज्ञान मन्दिर, बीना (सागर), का पंचम स्थापना दिवस

उक्त अवसर पर १९–२० फरवरी को संस्थापक ब्र० संदीप जैन 'सरल' और प्रा० निहाल चन्द जैन के संयोजकत्व में दो दिव-

सीय कार्यक्रम का आयोजन किया गया। डा० रमा जैन (छतरपुर) की अध्यक्षता में महिला सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसका संचालन डा० सरोज जैन (बीना) ने किया और जिसमें डा० आराधना जैन (गंज बासोदा), डा० जयन्ती जैन (सागर), सुश्री शकुन्तला जैन (सागर), श्रीमती संध्या जैन 'श्रुति' (जबलपुर) और ब्र० साधना (बीना) ने जैन वाङ्मय की सुरक्षा में महिलाओं की भूमिका आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट किये। जैन पाण्डुलिपियों के महत्त्व एवं उनके संरक्षण-प्रकाशन पर संगोष्ठी की अध्यक्षता न्यायाचार्य डा० दरबारी लाल कोठिया ने की और उसमें प्रा० कुन्दन लाल जैन (दिल्ली), डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल (जयपुर), प्रा० लाल चन्द 'राकेश' (गंज बासोदा), प्रा० नेम चन्द जैन (खुरई), प्रा० प्रेम चन्द जैन (तालबेहट), प्रा० पं० छोटे लाल जैन (सागर), श्री शीतल चन्द जैन (भोपाल), डा० रमा जैन (छतरपुर) और सेठ मोती लाल जैन (सागर) ने अपने सारगर्भित विचार व्यक्त किये। अनेकान्त ज्ञान मन्दिर द्वारा सभी समागत विद्वानों का सम्मान किया गया। ब्र० संदीप जैन 'सरल' की कर्मठता और लगन से इस पुस्तकालय में जैन पांडुलिपियों का अपूर्व भण्डार एकत्र हो गया है।

कलाकृति संरक्षण सम्बन्धी सूचना

भारत सरकार की राष्ट्रीय कला-सम्पदा संरक्षण अनुसन्धान शाला के संस्थापक, भूतपूर्व निदेशक, वर्तमान में भारतीय संरक्षण संस्थानों के महा निदेशक, विश्व विख्यात कला संरक्षण विशेषज्ञ डा० ओम प्रकाश अग्रवाल (जैन) ने सूचित किया है कि उन्होंने तथा उनकी पत्नी श्रीमती उषा अग्रवाल (जैन) ने जो स्वयं भी कला-संरक्षण में पारंगत हैं, जैन मन्दिरों, संग्रहालयों, ग्रन्थागारों, पुस्तकालयों आदि में उपलब्ध जैन कला-कृतियों यथा मूर्तियों, चित्रों, ग्रन्थों आदि - के संरक्षण हेतु निःशुल्क परामर्श देने का निश्चय किया है। उनसे निम्न पते पर सम्पर्क किया जा सकता है :

डा० ओम प्रकाश अग्रवाल (जैन), एच० आई० जी० ४४,
सेक्टर-ई०, अलीगंज, लखनऊ-२२६ ०२४, फोन : ३७७८१४

शोक संवेदन

११ दिसम्बर, १९९६ को बीना (सागर) में जैन न्याय-दर्शन के मनीषी, अप्रतिम प्रतिभा के धनी एवं स्वतन्त्रता सेनानी, ९२ वर्षीय, पण्डित वंशीधर व्याकरणाचार्य का देहान्त हो गया।

१७ दिसम्बर को मुम्बई में जैन साहित्य-चक्रवर्ती उपन्यासकार, ८१ वर्षीय, श्री वीरेन्द्र कुमार जैन का निधन हो गया।

१८ दिसम्बर को अजमेर में लोकप्रिय भजन 'तुम से लागी लगन, ले लो अपनी शरण पारस प्यारा' के रचयिता, ८५ वर्षीय, श्री माणकचन्द पाटनी 'पंकज' का लम्बी बीमारी के बाद निधन हो गया।

१६ जनवरी, १९९७, को मथुरा में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ के वरिष्ठ समर्पित विद्वान एवं संगीतकार, ८४ वर्षीय, श्री विनय कुमार पथिक का निधन हो गया।

७ फरवरी को गोंडल (सौराष्ट्र) के पास सड़क दुर्घटना में आर्यिका श्री विभूषितमती जी की घटना स्थल पर ही मृत्यु हो गई तथा ३ आर्यिकायें गम्भीर रूप से घायल हो गईं।

१० फरवरी को हजारीबाग के निकट सड़क दुर्घटना में मुनि श्री समय सागर जी का देहावसान हो गया।

२० फरवरी को सोनीपत में ७७ वर्षीय श्री महावीर प्रसाद जैन का देहावसान हो गया।

२५ फरवरी को एक-विश्व सद्भावना परिषद के संस्थापक, ६७ वर्षीय, आचार्य पुष्पराज जी का न्यूयार्क में निधन हो गया।

२३ मार्च को राजस्थान के भूतपूर्व उद्योग एवं स्वास्थ्य मंत्री, **समन्वय-वाणी** के आधार स्तम्भ, कर्मठ समाजसेवी, ६९ वर्षीय, श्री त्रिलोक चन्द जैन का जयपुर में निधन हो गया।

उपरोक्त सभी दिवंगत के प्रति **शोधादर्श** परिवार अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है, उनकी आत्मा की सद्गति एव चिरशांति की कामना करता है, और उनके स्वजनों/प्रियजनों के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना व्यक्त करता है।

आभार

श्री ताराचन्द जैन अग्रवाल, पचेवर (टोंक), ने णमोकार व्रत के उद्यापन पर निकाली गयी धनराशि में से ११ रुपये **शोधादर्श** को भेंट किये।

डा० शशि कान्त व श्री रमा कान्त जैन ने अपने पूज्य पिता जी स्वर्गीय डा० ज्योति प्रसाद जैन की ८५वीं जन्म-जयन्ति पर उनकी स्मृति में ५० रुपये **शोधादर्श** को भेंट किये।

प्राप्ति स्वीकार

१. **जैन जागरण के अग्रदूत,** ले०—श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-१९५२, पृष्ठ-६१५ मूल्य रु० १०/-

२. **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें,** ले०—डा० ज्योति प्रसाद जैन, प्रकाशक—वही, प्रकाशन वर्ष-१९७५, पृष्ठ ३७५, मूल्य रु० २५/-

३. **वीर शासन के प्रभावक आचार्य,** ले०—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल व डा० विद्याधर जोहरापुरकर; प्रकाशक—वही, प्रकाशन वर्ष-१९७५, पृष्ठ-२७२, मूल्य रु० १२/-

४. **श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ**, ले०—श्री राजकृष्ण जैन, प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, १, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष-१९५३, पृष्ठ-९०, मूल्य रु० ५/-

५. **सचित्र शाकाहार पुस्तिका,** ले० व प्रकाशक—श्री विशंभर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ, दिल्ली-६

ये सभी उपयोगी ग्रन्थ जो वर्षों पहले प्रकाशित हुए थे तथा अब दुर्लभ-प्राय: हैं, शाकाहार व जिनवाणी के प्रचार-प्रसार के लिये समर्पित दिल्ली के सुश्रावक श्री महावीर प्रसाद जैन (फर्म-विशम्भर दास महावीर प्रसाद जैन सर्राफ, १३२५, चांदनी चौक, दिल्ली-११०००६) से हमें प्राप्त हुए हैं जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। ये ग्रन्थ प्रत्येक जैन पुस्तकालय व शास्त्र भण्डार में रहने चाहिये। इन्हें श्री महावीर प्रसाद जी से रु० ५०/- भेजकर प्राप्त किया जा सकता है।

★

पाठकों की दृष्टि में

जैन और जैनेतर समाज में शोध-पत्रिकाओं के प्रकाशन प्रायः विरल होते जा रहे हैं। इस दृष्टि से **शोधादर्श** का प्रकाशन-नैरन्तर्य पहल करता है। शोध-पत्रिकाओं में मात्र गवेषणात्मक तथ्यों और सत्यों के उद्घाटन किये जाते हैं, इससे हमारी लुप्त और विलुप्त साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्पदा का सम्यक् उजागरण हो जाता है। इस दृष्टि से सिद्धान्ताचार्य बाबू कामता प्रसाद जैन (अलीगंज), पंडित अगर चन्द्र नाहटा (बीकानेर) तथा डा० ज्योति प्रसाद जैन (लखनऊ) जैसे महामनीषियों के अभाव खटकते हैं। ठोस स्वाध्याय सातत्य की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलना चाहिये, कदाचित तभी इस दिशा में व्याप्त अभाव की भरपायी विषयक सम्भावना चिरंजीवी हो सकती है।

अंक ३० में डा० सुनीता कुमारी, डा० रानी मजूमदार, डा० मालती जैन, श्री रामजीत जैन तथा श्री शिवचन्द्र शर्मा के आलेखों में अनुसंधान की महक मुखर हो उठी है। अंक की अन्य अनेक दुर्लभ जानकारियाँ पाठकों का ध्यान आकर्षित करती हैं।

इस उल्लेख्य उपलब्धि के लिए सुधी लेखको तथा सम्पादकों और प्रकाशन व्यवस्था को हमारी बहुतशः बधाइयाँ।

—**डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया**, अलीगढ़

प्रस्तुत अंक अपनी अभिनव सामग्री से परिपूर्ण है। पत्रिका अपनी उद्देश्य प्राप्ति में सफलतापूर्वक अग्रसर है, यह देखकर प्रसन्नता होती है। पत्रिका की प्रगति निरन्तर बनी रहे, यही कामना है। आपका परिश्रम सार्थक है, अंक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

—**श्री वेद प्रकाश गर्ग**, मुजफ्फरनगर

प्रस्तुत अङ्क भी पिछले अङ्कों की भांति सुरुचिपूर्ण पठनीय सामग्री से परिपूर्ण है। आप तीनों सम्पादकों का परिश्रम अभिनन्दनीय है।

—**पं० अमृत लाल शास्त्री**, वाराणसी

'सम्पादक की ओर से–आत्म निवेदन' के अन्तर्गत जैन विद्या (Jainology) सम्बन्धी अध्ययन/अनुशीलन' के अन्तर्गत प्रस्तुत आपके विचार स्तुत्य हैं।

–श्री आदित्य जैन, लखनऊ

आपकी पत्रिका **शोधादर्श** हमें प्राप्त होती रहती है। अच्छी सामग्री रहती है।

–डा० दिनेन्द्र चन्द्र जैन, आरा

केशलोंच के विषय में श्री अजित प्रसाद जी का विश्लेषण सही है। समाचारों पर भी उनकी दृष्टि बहुत पैनी रहती है।

–श्री जमनालाल जैन, वाराणसी

'ठहरा जीवन गतिहीन ढूह बन जाता हैं, बहो, बहो, बहते चलो·········' सही में प्रेरक है—इस विचार चिन्तन के प्रतिरूप काम में मैं फिलहाल प्रवास में बहती रहती हूँ।

–श्रीमती गीता जैन, मुम्बई

आपका सम्पादकीय पढ़ा। मुनि श्री चन्द्रप्रभ सागर का लेख उद्धरण, और आपका विवेचन विचारणीय है। 'क्या वेदों में पशु-हिंसा का उल्लेख है ?' लेख बहुत चिन्तनशील और सत्य प्रकाशित करने वाला है। ब्रह्माण्ड के बारे में भी एक लेख है। आपका आत्म निवेदन सामाजिक नीति मूल्यों के ह्रास पर खेद प्रकट करता है।

–श्रीमती वासंती शाह, पुणे

यह अंक में आपका **संपादकीय** उत्तम है, रोचक है, और समयानुकूल है। जैन धर्म के दोनों पंथ में साधु संस्था (श्रमणवर्ग) शिथिलाचारी हो रहे हैं। **भारतीय दर्शन में सृष्टि वर्णन**–लेख भी ज्ञानप्रद है। यह लेख उत्तम है। आपका **आत्म निवेदन** उत्तम है।

–श्री शांतिलाल के० शहा, सांगली

शोधादर्श-३० में शोध की वास्तविक छवि प्रतिबिम्बित हो रही है। आवश्यक प्रारूप, सही दिशा एवं निष्पक्ष चयन इसकी विशेषता है, आप का समर्पण अक्षर प्रत्यक्षर परिलक्षित है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य स्तरीय सामग्रियों की भांति आपका सम्पादकीय विचार भी सारगभित है, उसे चाहकर भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

—**डा० (श्रीमती) नीलम जैन,** सहारनपुर

सामग्री का चयन सराहनीय और स्पृहणीय है।

—**श्री नीरज जैन**, सतना

शोधादर्श-३० प्राप्त कर आन्तरिक तोष का अनुभव किया। यह पत्रिका जैन-परक शोध एवं सिद्धान्तों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री देती है। आप स्वयं भी इस दिशा में स्तुत्य भूमिका अदा कर रहे हैं।

—**डा० रवीन्द्र कुमार जैन,** चेन्नई

Dr. Jyoti Prasad ji Jain's article is illuminating.

—S. Ippagumta, Hyderabad

आपकी उदारता एवं लगन के प्रति शतशः धन्यवाद। आपने समीक्षा पूर्ण पुस्तक ध्यान पूर्वक पढ़कर पोइन्टसर की उसके लिये आभार। संपादकता और तटस्थता के प्रति अनुमोदन, सह शुभकामनायें।

—**श्री तिलोक मुनि,** शंखेश्वर नगर-रतनपार (गुजरात)

भारतीय दर्शन में सृष्टि वर्णन, गंगा : आचार्य जिनसेन की दृष्टि में, चमत्कार या वीतरागता, क्या वेदों में पशुहिंसा का उल्लेख है, आदि बड़े ही तथ्यपूर्ण और जानकारी पूर्ण लेख हैं। आलेखों के शीर्षक देखकर ही अनुमान लग सकता है कि विषयों की कितनी विविधता है। पत्रिका की सम्पूर्णता का यह प्रतीक है।

'जिज्ञासायें एवं समाधान' तथा 'समाचार विमर्श' पाठकों को एक दिशा देने का उत्कृट प्रयास है।

—**श्री राजेन्द्र नगावत**, इंदौर

It's the leading journal in India now, not only for the Jaina community but also for the world at large, interested in the universal sermons of Jaina ford-founders.

—Prof. L. C. Jain, Jabalpur

शोध-पत्रिकाओं में हठात् परिगणनीय पत्रिका **शोधादर्श** का तीसवां अंक प्राप्त हुआ। इस महनीय पत्रिका के प्रथम दर्शन से सातिशय आह्लादित हुआ हूँ। इस शोध-प्रस्तुति में साहित्य, इतिहास, संस्कृति और कला के समेकित दर्शन सुलभ होते हैं। इसके संपादक-परिवार की सारस्वत परिश्रान्ति विस्मयकारिणी हैं, क्योंकि इसमें विनियुक्त बहु-आयामी सामग्री का बहुलांश सम्पादक-परिवार की ओर से ही प्रस्तुत हुआ है। कुल मिलाकर यह पत्रिका 'डाईजेस्ट' का आस्वाद परिवेषित करती है। चिन्तन की स्वतन्त्रता और जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिये तो यह पत्रिका कामदुग्धा की भूमिका निबाहती है। अवश्य ही यह एक सर्वतोभद्र और समग्र पत्रिका है।

—**डा० श्रीरंजन सूरिदेव**, पटना

प्रत्येक आलेख श्रम साध्य, शोध सामग्री से परिपूर्ण है। श्री अजित प्रसाद प्रसाद जी के ज्ञान समुद्र से मथित सम्पादकीय का एक-एक शब्द आज के शिथलोन्मुख साध्वाचार के लिए चुनौती है। अवश्य आप जैसे लेखकों के प्रयास से सदोष साध्वाचार एवं श्रावकाचार की अंध श्रद्धा में कुछ रोक लग सके तो सार्थकता होगी।

—**ब्रह्म० संदीप जैन 'सरल'**, बीना (सागर)

शोधादर्श का अंक ३० मिला। सदा की भाँति यह अंक भी विविध ज्ञान-वर्धक सामग्री से भरपूर है। निश्चय ही आप साधुवाद

के पात्र हैं।

—**डा० ओम प्रकाश अग्रवाल जैन,** लखनऊ

शोधादर्श का ३०वां अंक आद्योपान्त अवलोकित कर आनन्दानुभूति हुई। समासत: विचारविन्दु, चिन्तनकण, जीवन दर्शन, जिज्ञासायें एवं समाधान, समाचार विमर्श, पाठकों की दृष्टि में आदि विविध स्तम्भों से **शोधादर्श** प्राच्य विद्या, विशेषत: जैन धर्म एवं दर्शन, के जिज्ञासुओं का कण्ठहार बन लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है। इस अंक की श्रेष्ठ तथा स्तरीय प्रस्तुति के लिए सम्पादक मण्डल साधुवाद तथा बधाई का पात्र है। आशा है, आपका यह सारस्वत सत्प्रयास पत्रकारिता जगत में निरन्तर जारी रहकर भारत और भारतीयता को भास्वर करता रहेगा।

—**डा० कैलाश नाथ द्विवेदी,** कोंच (जालौन)

——

इस अंक के लेखक

श्री अजित प्रसाद जैन : उप सचिव, उ० प्र० शासन (अ. प्रा.)
महामंत्री, तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र समिति
पारस सदन, आर्यनगर, लखनऊ-२२६००४

श्री कैलाश भूषण जिन्दल : आई. आर. एस. (अ. प्रा.), एडवोकेट
अजिताश्रम, गणेशगंज, लखनऊ-२२६०१८

डा० ज्योति प्रसाद जैन (स्व०) : विश्व-विश्रुत विद्वान

डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया : डी. लिट्, साहित्यालंकार
मंगल कलश, ३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड
अलीगढ़-२०२००१

श्री रमा कान्त जैन : उप सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

डा० विश्व नाथ मिश्र : (अ. प्रा.) प्रिन्सिपल, सनातन धर्म कालेज,
मुजफ्फरनगर
४७/४, कबीर मार्ग, लखनऊ-२२६००१

श्री सुखमाल चन्द्र जैन : (अ. प्रा.) प्रशासनिक अधिकारी, भारत सरकार
राज राजेश्वर भवन, एफ-३, ग्रीन पार्क,
नई दिल्ली-११००१६

डा० शशि कान्त : विशेष सचिव, उ. प्र. शासन (अ. प्रा.)
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ-२२६००४

આ
ડેલ
પ્રા
ફો